कमलेश्वर

राजकमल

ओह् गॉड !
तेरी इन
बेपनाह् मजबूरियों के नाम

जो दो वर्ग आपस मे मूल्यों को लेकर विरोधी धरातलों पर खड़े रहे हैं, उनका यहाँ पर मिलना और बिलकुल एक-से सवाल करना यह स्पष्ट कर देता है कि उनकी चेतना में साहित्यिक विकास की गति को समझने-समझाने का गम्भीर प्रयास कम, पर इस बात की चिन्ता ज्यादा थी कि कहानी के क्षेत्र मे नये व्यक्तित्व क्यो और कैसे प्रतिष्ठित हो गये ! अगर हुए तो उनसे पूछकर क्यों नहीं हुए या कम-से-कम उन्हें ख़बर देकर होते !

हम बात को इस स्तर से नहीं उठाना चाहेंगे। इस बात को सिर्फ़ इतना कहकर समाप्त करेंगे कि लेखक-व्यक्ति पहले प्रतिष्ठित नही हुए थे—उनकी कहानियो ने पाठक वर्ग से जीवन्त सम्बन्ध बनाया था और उन्हें सामने लायी थी—पहले वे कहानियाँ प्रतिष्ठित हुई थी, जिन्होंने नये पाठकों की जिज्ञासाओं को तृप्त किया था और सर्वथा नये कथा-क्षेत्रो और बदली हुई स्थितियों को चित्रित किया था। यह सूक्ष्म संक्रमण बहुतों को नही दिखाई पड़ा, उन्हें सिर्फ़ यह लगा कि कहानियाँ गाँव, कस्बे और शहर में बँट गयी हैं और परिवेश की नवीनता को नयापन कहकर चलाया जा रहा है। बात इतनी ही नही थी।

अगर ग़ौर से देखा जाये तो यह सक्रमण सभी स्तरों पर हो रहा था। नयी कहानी ने भौगोलिक परिधि को ही नही तोड़ा, उसकी आन्तरिक दृष्टि में आमूल परिवर्तन हुआ—इस परिवर्तन के मानसिक-ऐतिहासिक कारण थे।

जन और उसके समाज के सन्दर्भ मे उस वक़्त सिर्फ़ एक पीढ़ी ही नही बदल रही थी, सिर्फ़ उम्र के तकाज़े ही नहीं थे बल्कि यह एक सम्पूर्ण-चेतना का संक्रमणकाल था। ऐसा नही था कि पिता लोग पुराने पड़ रहे थे और पुत्र लोग नये हो गये थे—यह तो हर वर्ष होता है, कुछ नवयुवक सहसा ज़िम्मेदारियाँ उठाते हैं और उनका एक नया समूह दिखाई देने

लगता है, साथ ही कुछ लोग बूढ़े होकर अलग-अलग हो जाते हैं। लेकिन जब हम सम्पूर्ण चेतना के संक्रमण की बात करते हैं तो स्पष्ट ही हमारा इंगित उन परिवर्तनों की ओर है जो सामाजिक, आर्थिक और मानसिक धरातलो पर पड रहे दबाव के कारण हो रहे थे। यह दबाव उस मिले-जुले समाज को प्रभावित कर रहे थे, जिसमें दो ही नहीं, तीन और चार-चार पीढियाँ अपने शारीरिक अस्तित्व और बीस-बीस पीढियाँ अपने वैचारिक अस्तित्व के साथ रह रही थी और अब भी रह रही हैं। जिन साधन-सम्पन्न लोगों की सन्तानों ने उन दबावों को अभी भी प्राप्त सुविधाओं के कारण महसूस नही किया वे आज भी नये मूल्यों के सन्दर्भ मे उसी पुरानी चेतना को लेकर चल रहे हैं, जिसमें औरत एक जिन्स है, ज़िन्दगी महज़ ऐयाशी है और जो आज भी समाज के गतिशील सवालों से उतने ही अलग-थलग हैं, जितने कि उनके पुरखे थे। नये परिवर्तनों का विरोध करना उनकी आज भी मजबूरी है क्योंकि इससे उनके निहित स्वार्थों और सुविधाओं की चूलें हिल जाने का ख़तरा है और अजगर को चाकरी का मसला सता सकने की स्थिति है। यह समुदाय सीमित है, पर उसकी चेतना निश्चय ही वही है जो उनके पिताओ की रही है।

इसी के साथ मध्यवर्ग और निम्न मध्यवर्ग के नौजवानो का भी एक बहुत बड़ा तबका ऐसा है जो सोचने-विचारने और ज़िन्दगी जीने के मूल्यो को लेकर वैचारिक और व्यावहारिक रूप से उतना ही पुरानपन्थी है, जितने कि उनके जीवित अग्रज हैं।

कहने का मतलब यह है कि नये विचारों को वहन करनेवाले सिर्फ़ नयी उम्र के लोग ही नही है, उनमे अधिक वय के लोग भी हैं और उनका विरोध करने वाले सिर्फ पिछली पीढी के लोग ही नही है, उनके साथ नयी पीढ़ी के लोग भी हैं। यह टकराव उम्र मे बँटी हुई पीढ़ियों का नही,

वैचारिक धरातल पर दो तरह से सोचनेवाली पीढ़ियों का है।

इस बात को नकारने के लिए दलील यह दी जायेगी कि "यह भी हमेशा होता रहा है!" जरूर होता रहा है—पर आज यह टकराव जितना तेज और सघन है और जिस अबाध गति से प्रवहमान है, वही इसे संक्रमणकाल की सज्ञा देता है···क्योंकि इस वक्त कुछ धीरे-धीरे नहीं बदल रहा है, बल्कि टूट-टूटकर गिर रहा है···मानव मन और चेतना मात्र आन्दोलित नहीं, आक्रान्त है!

आज के पुराने लेखक अपने समय में नये थे—एक सीमित रूप में, क्योंकि वे अपने समय के 'धीरे-धीरे' बदलते हुए मूल्यों को वाणी दे रहे थे, पर आज इस समय का लेखक उन स्थितियों की उपज है जो 'एकाएक' बदली हैं। दूसरे महायुद्ध का निर्णय होने से पहले तक मानवता की चिन्ताएं दूसरी थीं, जीवित रहने की शर्तें इतनी क्रूर नहीं थी जितनी कि अब एकाएक हो गयी हैं, निर्णय लेने की उतनी जल्दी तब नहीं थी जितनी कि अब है! जन-मानस तब आन्दोलित था, आज आकुल-आक्रान्त है! और इसी के साथ वे सब बातें भी जुड़ी हुई हैं जो इस परिप्रेक्ष्य में अपना तत्काल उपचार मांगती हैं। तब लेखक को किनारे खड़े होकर बहाव को देखने की सुविधा थी और मन्तव्य प्रकट करना ही उसका लेखकीय धर्म था, तब वह द्रष्टा भी था, पर आज का लेखक मात्र द्रष्टा नहीं है, वह भोक्ता भी है···किनारे खड़े रहने की सुविधा भी उसे नहीं है···बहाव में बहना उसकी मजबूरी है।

होता यह है कि समय विशेष में कार्यरत लेखक अपने मूल्यों और आस्थाओं को घोषित तथा स्थापित कर चुका होता है···वह नये का साथ भी देता है पर संक्रमणकाल में उस वक्त का नया भी बहुत जल्दी पुराना पड़ जाता है या अपनी महत्ता खो देता है। उड़ता तो 'हेकोटा' भी है, पर युग 'जेट' के नाम से ही जाना जाता है?

तो बात दृष्टि में आमूल परिवर्तन की थी—यह परिवर्तन 'नयी कहानी' में सभी स्तरों पर आया। मूलतः कथ्य के स्तर पर! बदलती हुई विचार-परम्परा और आकुल जन की संकुलता को जितनी सघनता से इधर की 'नयी कहानी' ने पेश किया, वह पहले नही था। पुरानी कहानी का व्यक्ति-चरित्र इकहरा था, मात्र शारीरिक अस्तित्व का स्वामी था। वह अपना विश्लेपण माँगनेवाला व्यक्ति नही, कहानियों के कथानको को वहन करने वाला साधन था जो साहित्य के *शाश्वत मूल्यो के नाम पर शाश्वत कार्य करने के लिए मजबूर* था। एक डॉक्टर व्यक्ति को मानव मूल्यों के नाम पर अपने रकीब को बचाना ही था, चाहे उसके रकीब का रोग नितान्त असाध्य ही क्यों न रहा हो, क्योंकि तब कहानी में वही होता था जो कहानीकार चाहता था। गणित की तरह उनके उत्तर-अन्त निश्चित थे···

'नयी कहानी' में यह उत्तर-अन्त नही हैं। कहानी की आन्तरिक प्रकृति और सम्प्रेपित कथ्य मे इससे बहुत बड़ा अन्तर आया है। 'नयी कहानी' में कथ्य के स्तर पर हर उस बात को उठाया गया जो नयी चेतना को सोचने के लिए बाध्य करती थी, वह पहले चाहे जितनी भी वर्जित रही हो··· पुरानी कहानी मे व्यक्ति शारीरिक रूप से आता था और वैचारिक रूप से कथाकार—'नयी कहानी' मे यह विचार उसी शरीर में अवस्थित बुद्धि से उपजता है जिसे प्रस्तुत किया जाता है···तब विचारों को हाड़-मांस प्रदान किया जाता था, अब हाड़-मांस के इनसान के विचारो को भी प्रस्तुत किया जाता है। यह भेद इसलिए है कि तब लेखक अपने को समाज का नियामक, पथप्रदर्शक और भविष्य-द्रष्टा मानकर चलता था, अब वह अपने को सहभोक्ता, पथ का जीवन्त साथी और स्थितियों का विश्लेपक व प्रस्तुतकर्त्ता मानता है।

इसीलिए 'नयी कहानी' में क़िस्सागोई का परम्परावादी

रूप नहीं है। अब आन्तरिक और बाह्य जीवन के अनुभव-खण्डों की लय और अन्विति की यथार्थ-प्रेरित कथात्मकता ही उसका लक्षण है। और जीवन के नवीनतम अनुभव-खण्डों को प्रेषित करने की उद्दाम इच्छा कहानीकार में है, इसीलिए यह अपने पूर्ववर्तियों से कहीं ज्यादा गतिशील है।

अब इस संग्रह के बारे में। इस संग्रह की कहानियाँ एक बदली हुई मनःस्थिति की कहानियाँ हैं। तीन वर्ष पहले मुझे टेलीविज़न की नौकरी के सिलसिले में दिल्ली आना पड़ा। इलाहाबाद छोड़ते हुए बड़ी तकलीफ़ हुई, पर यहाँ आकर जब चारों तरफ़ देखना शुरू किया तो लगा कि एका-एक सब कुछ बदल गया है। यहाँ एक नयी ही जिन्दगी थी, एक ऐसी जिन्दगी जिसके किनारे खड़े होकर देखने से बहाव का पता ही नहीं चलता था···एक अजीब-सा पराया-पन और बेगानापन है यहाँ।

और सृजनात्मक प्रक्रिया तो कुछ ऐसे दौर से गुज़री कि हाथ पैर ही फूल गये। यहाँ बैठकर अपने संचित अनुभवों के आधार पर जो भी लिखता वही बहुत सीमित और बेमानी-सा लगता। करीब तीन-चार महीने मे घोर मानसिक संकट से गुज़रा। संकट दोनों तरफ़ था—ऊपरी जिन्दगी में भी और भीतरी में भी। ऊपरी सकट और शोर को किसी हद तक सुविधाओं से जीता जा सकता था, पर भीतर का संकट सालता था। भीतर एक ऐसा शून्य समा गया था कि उसमें उबरने का रास्ता ही नजर नहीं आता था। लगा यही कि हमारे सोचने का ढंग, हमारी कहानियों का गठन, हमारी भाषा, हमारे प्रतीक-संकेत और शैली—सब कुछ अधूरे-अधूरे हैं। हर अवयव की नयी माँग है। जो भाषा हम लिखते आये है, वह यहाँ के संवेदनों और उलझे हुए अनुभव-खण्डों को व्यक्त करने में असमर्थ है। जो प्रतीक योजना और संकेत

बड़े सशक्त लगते थे, वे यहाँ आकर बड़े अशक्त, श्लथ और सीमित लगते थे। यहाँ की जिन्दगी को प्रस्तुत करने के लिए जैसे हमे सब कुछ नया और दूसरा चाहिए था।

यह माँग सिर्फ़ इसी शहर की हो, यह बात नही है—यह तो समय की माँग है—इसी के अनुरूप 'नयी कहानी' को और भी विकसित होना है। यहाँ की जिन्दगी के सूत्र इतने उलझे हुए हैं, मान-मूल्य इतने बदले हुए है कि पिछला पहनावा और दृष्टि इस सन्दर्भ मे उतने खरे नही उतरते, जितने कि वे थे। लेखन-प्रक्रिया में यही संकट आड़े आ रहा था।

दिल्ली सचमुच ही बडी सक्रामक है···लेकिन इसी दिल्ली मे आख़िर रास्ता तो मिलना ही था। लगा कि इस अवरोध को तोडने के लिए शायद शुरू-शुरू में प्रत्यक्ष या परोक्ष *व्यग्य का सहारा ही लिया जा सकता है।* और काफ़ी दिनो की घुटन के बाद 'जर्ज पंचम की नाक' कहानी लिखी गयी। इस कहानी के प्रकाशित होने के बाद की कहानी और भी मज़ेदार है, क्योंकि इसे लिखने के समय मैं सरकारी टेलीविजन मे नौकर भी था। यह एक अलग दास्तान है···

बहरहाल, इस कहानी के लिखे जाने के बाद रास्ता साफ हुआ और जो कहानियाँ मैंने लिखी उनमे से अधिकांश इस संग्रह में संकलित हैं।

'अच्छी कहानी' और 'बुरी कहानी' के ग़लत सन्दर्भ में इस संग्रह की कहानियों के बारे मे मुझे कुछ नही कहना है, क्योकि अच्छी या बुरी होने का सवाल तब उठता है जबकि वे दिमाग़ी ऐयाशी के लिए लिखी गयी हों—ऐयाशी का वह वक़्त हमारे हिस्से मे नही आया। मेरी दृष्टि में कहानी की कीमत इसमे नही है कि वह अच्छी है या बुरी, उसकी सार्थकता और निरर्थकता भी मेरी नज़र मे बहुत माने रखती है।

दिल्ली : 3 जून, 1963

—कमलेश्वर

संकेतिका

•

एक अश्लील कहानी

नग्नता में भयानक आकर्षण होता है, उससे आदमी की सौन्दर्यवृत्ति की कितनी सन्तुष्टि होती है और कैसे होती है, यह बात बड़े दु:खद रूप में एक दिन स्पष्ट हो ही गयी। अनावृत शरीर से न जाने कैसी किरनें फूटती हैं, कैसा उल्लास और कैसी तृप्ति उसमें होती है! एक-एक रेखा का बाँकपन नया-नया लगता है। खुला हुआ तन दूर ही सही, पर उसके रोम-रोम में बसी हजारों-लाखों आँखें बरबस अपनी ओर खींचती है। दिन-भर के थके-हारे कदम और रात-भर अपनी विवशताओं के विचारों से टूटा हुआ मन एक ही जगह केन्द्रित हो जाता है। सब मजबूरियों के ख़याल उस क्षण न जाने कहाँ दुबक जाते हैं। वैसा सम्मोहन, वैसी मुग्धता और प्यास कभी महसूस ही नही की। रूप की अनुभूति इस तरह घेर लेती है कि न आँखें मूंदते बनता है न खोलते ही।

मैंने उसे ऐसी ही विमुग्ध स्थिति में अनवरत खड़े देखा है। जब वह उस प्यास से जलता होता, तब न उसके चेहरे पर तमतमाहट होती, न पशुता। बस वह देखता खड़ा रहता। कुछ देर बाद वह अपनी आँखों को बड़े जोर से मलता और वैसे ही उन पर गदेलियाँ रखे अपने बिस्तर पर आकर बैठ या लेट जाता। अपनी बरबादी और मुसीबतों की बातें वह सिर्फ़ शाम को ही करता है। सुबह आँख खुलने के बाद उसके

मन की बेचैनी और छटपटाहट सिर्फ महसूस की जा सकती है। सुबह वह ज्यादा बात भी नहीं करता। बात करता भी है तो चार-चार, पाँच-पाँच मिनिट बाद, जैसे उसे किसी की याद आती रहती है। उसकी सब बातें अधूरी रह जाती हैं, यहाँ तक कि नौकरी की भी। सुबह नौ बजे तक का समय बिलकुल उसका अपना नहीं होता। वह कमरे से बाहर नहीं जाता, कोई मिलने आ जाये तो मुझसे मना करवा देता है। एकाध बार मैंने कहा भी, "क्यों चन्द्रनाथ, मान लो वह तुम्हारी नौकरी के लिए कोई सन्देशा लेकर आया हो तब ?"

"मैं दस बजे उससे जाकर ख़ुद मिल लूँगा।" चन्द्रनाथ सहज ही कह देता, "इतनी-सी देर में क्या बना-बिगड़ा जाता है ?"

"लेकिन तुम्हें···" मैं कुछ भी आगे बोलने को होता तो वह संकोच मे पड जाता और बडी बोदी दलील पेश करता, "कुछ थोड़ा-सा वक़्त मेरा अपना भी होना चाहिए, दिन-दिन-भर ख़ाक छानता हूँ, रात-रात-भर दौडता रह जाता हूँ तो कुछ देर अकेले बैठने को मन करता है···तुम तो जानते हो कि मैं इस वक़्त···" कहते-कहते उसे अपनी बात झूठी लगने लगती, पर जिस बात के लिए आदमी मन से बेबस होता है उसके लिए वह बेशरमी भी लाद लेता है। ऐसा नहीं कि उसे इस बात का अहसास न हो कि मैं उसकी हरकतें नहीं जानता। पहले वह तरह-तरह के बहाने बनाकर खिडकी के पास खडा होता था, अब खुलेआम खडा होने लगा है और इस तरह खड़ा होता है कि यह बात उसकी अपनी और नितान्त वैयक्तिक है। इसमें हस्तक्षेप करने का साहस किसी को नहीं होना चाहिए।

औरतों और अफ़सरो के सम्बन्ध में चन्द्रनाथ के एक-से विचार थे। पर जब वह कुन्ती को देखता···हाँ, सामने वाले मकान में रहने वाली उस सुन्दर-सी औरत का नाम कुन्ती ही है, लेकिन आपको उसके नाम से क्या मतलब ? आप सिर्फ इतना जान लीजिए कि कुन्ती की उम्र लगभग तीस वर्ष है, रग गोरा ही नहीं, उसके गोरेपन मे रेशम-सी आभा है। आँखों की पुतलियाँ बेहद काली है और बालों के सिरे भूरे।

उसके घर का जितना हिस्सा इस दोमंज़िले पर बने कमरे से दिखाई

पड़ता है, उसकी सजावट में बड़ी सुरुचि है। घर देखकर उसके जीवन के सुख से सहज ही किसी को ईर्ष्या हो सकती है। नीले परदों के पीछे सजे वे कमरे बड़े रहस्यमय लगते हैं, रात को जब उनमे रोशनी होती है और कुन्ती अपनी साड़ी का पल्ला कमर से लपेटे कभी उन परदो के पीछे से गुज़रती है तो उसकी समतल चाल से फ़र्श पर क़ालीन बिछे होने का बोध होता है। वह कभी सन्तप्त या व्याकुल नही दिखाई दी, उसने कभी नजर उठाकर इधर-उधर वहशी निगाहों से किसी को देखा हो, ऐसा भी नहीं हुआ। उसके मन में कभी बादल घुमड़े हों और बरसने से पहले की उदासी ही छायी हो, यह भी नही दिखाई दिया।

इस खिड़की से उसके घर का नक्शा ऐसा दिखाई देता है जैसे किसी सुरंग में बसे मकान के कटे हुए हिस्से दिखाई दे रहे हों। यहाँ से इन ऊपर वाले कमरों के अलावा नीचे का गुस्लख़ाना, आँगन का थोड़ा-सा भाग, तीन-चौथाई बरामदा और बरामदे के भीतर वाले कमरे का वह हिस्सा दिखाई पडता है जिसमे शृगार-मेज़ रखी है। सुबह वह यही दिखाई पड़ती है, लगभग एक-डेढ़ घण्टे के लिए। उसके बाद वह भीतर वाले उन रहस्यमय कमरों मे खो जाती है। घर मे दो पुरुष दिखाई पड़ते हैं, जिनमें से एक उसका पति है और एक सौतेला लड़का, जिसकी उम्र लगभग बीस वर्ष की होगी। कुन्ती के पति छोटे-मोटे रईस हैं। उन्हें कपड़े पहनने और ढंग से रहने का शौक़ है। इस घर में कभी दंगा-लडाई या मनमुटाव की छाया तक नही दिखाई दी। छोटे-से गिरजे की तरह ईश्वरीय शान्ति यहाँ फैली थी और ये तीनों ही प्राणी मिशनरियों की तरह अपने-अपने कर्त्तव्य में लगे नजर आते थे। इन कमरों से कभी ऊँची आवाज, उन्मत्त क़हक़हे या विलासपूर्ण जीवन की गुनगुनाहट भी नही सुनाई दी ?

पर यह शान्ति तूफ़ान से पहले की थी। यह पता नही था। कोई भी घटना इतने अप्रत्याशित रूप से सामने आयेगी, इसका अहसास नही था। कुन्ती आत्मलीना थी। जब वह गुस्लख़ाने में नहाने जाती या वहाँ से निकलती तो अपने मे लीन रहती। उसे इस बात का ज्ञान तक न होता कि कई खिडकियों की आँखें उसे घूरती हैं या किसी दूसरे मकान की छत पर भी कोई हो सकता है।

पता नहीं किस दिन चन्द्रनाथ ने उसे ऐसी स्थिति में देख लिया कि तब से उसका कार्यक्रम ही बदल गया। पहले वह सुबह सात बजे ही एक प्याला चाय खुद पीकर और मुझे पिलाकर काम की तलाश में निकल जाता था और शाम गये लौटता था। खिड़की के पास उसके अटकाव को मैं तब जान पाया जब उसने सात बजे की बजाय दस बजे जाना शुरू किया और एक दिन जब वह मित्र-मण्डली में खुलकर बोला।

यह अभी तीन-चार महीने पहले की ही बात है। हम तीन-चार दोस्त यूँ ही सड़क पर चहलकदमी कर रहे थे। शाम का समय था, सिविल लाइन्स की सड़कों पर निर्द्वन्द्व आदमी-औरतों का सैलाब उमड़ आया था। वैसे उस समय बात इराक की क्रान्ति पर चल रही थी और विशन कर्नल नासिर के सम्बन्ध में ऐसी-ऐसी बातें कर रहा था जैसे इराक में राज्य-क्रान्ति की योजना कर्नल नासिर ने उसके साथ बैठकर बनायी हो। इतने में एक सजी-बजी महिला पास से गुज़र गयी और चन्द्रनाथ ने शैतानी से लम्बी आह भरी। वर्मा ने बड़ी हिकारत से चन्द्रनाथ की इस हरकत को नामंज़ूर किया, "यह बदतमीज़ी है, इसीलिए मैं ऐसे लोगों के साथ रहना पसन्द नहीं करता···"

चन्द्रनाथ एकाएक तिलमिला उठा, "मतलब क्या है आपका? मैं अगर शरीफ़ज़ादा नहीं हूँ तो ये भी शरीफज़ादियाँ नहीं हैं। समझे आप? ये लोग यही चाहती हैं कि कोई इन्हें देखे और फ़बतियाँ कसे। इससे इनका अहं सन्तुष्ट होता है और इन्हें अपनी ख़ूबसूरती पर गर्व होता है···"

"यह बकवास है!" वर्मा ने अपनी पेटी ऊपर सरकाते हुए कहा, "सुन्दर बनने और सुन्दर दिखने की इच्छा किसमें नहीं होती? इसका यह मतलब नहीं कि दुनिया की सभी औरतें—ऐसी औरतें जो अपने रूप को सँवारकर रखती हैं—चरित्रहीन हैं, और वे आपकी निगाहों की मोहताज हैं! उनके पास उनके आदमी हैं, उनके रूप और यौवन को सराहने वाले मन और आँखें हैं···"

"यही तो नहीं है!" चन्द्रनाथ ने तेज़ी से कहा, "यही उनके पास नहीं है, उनकी प्यास के लिए पानी नहीं है!" वह और भी तेज़ हो आया था, "मैं पूछता हूँ, इन औरतों का काम क्या है? भरे हुए घरों में यह रह नहीं

सकती, शादी से पहले अलग घर के सपने इनके दिमाग़ मे मँडराने लगते हैं, शादी के बाद ये बच्चे पैदा करने से कतराती है, नौकरी इनसे हो नही सकती, घर का काम ये कर नहीं सकती; आखिर ये करना क्या चाहती है? इनकी ज़िन्दगियाँ किसलिए है? इनके सामने कौन-सा आदर्श है जिसके लिए ये जीना चाहती है!"

"जीने वाली बात बहुत सीधी है!" बिशन ने कहा, "हर आदमी जीना चाहता है। पेडों की जड़ें और मिट्टी खाकर जीना चाहता है, रही ज़िन्दगी में आदर्श की बात, सो भाई, जीने के लिए जीना छोटा आदर्श नही है!" कहते-कहते वह हँस पड़ा। वर्मा भीतर-भीतर छटपटा रहा था, बिशन की हँसी ने उसका पारा और भी चढा दिया, रूमाल से मुँह पोछकर बोला, "मतलब तुम्हारा यह है कि ये सब औरते बेकार जी रही है, इनके लिए वासना और ऐश्वर्य ही सब कुछ है—यानी ये चरित्रहीन है!"

"जी!" चन्द्रनाथ ने व्यग्य से कहा, "एक-एक बात कागज पर नोट कर लीजिए, तब बात कीजिए!"

"यह कसूर उनका नहीं, तुम लोगो की भूखी आँखों का है!" वर्मा बोला तो चन्द्रनाथ ने बडी हिकारत से कहा, "अभी आपने औरत की भूखी आँखें देखी नही हैं। एक बार देख लीजिए तो पसीना छूट जायेगा पसीना! इनका यह शृंगार उसी भूख की ख़ामोश आवाज़ है! आख़िर इस बनने-ठनने का मतलब क्या है? ये औरतें सिर्फ़ आदमी के लिए बनती-सँवरती है! क्या जरूरत है कि आप सज-सँवरकर शाम को ही निकलें और ऐसी जगहों में आयें जहाँ हज़ार निगाहें हों। इन्हें बेवक़्त घरो मे जाकर देखिए, मसली हुई साडियाँ, फीके होंठ और रूखे बाल। सौन्दर्य-प्रियता का यह मतलब नही कि शाम चार बजे आपका वह जुनून जागे!" बोलते-बोलते चन्द्रनाथ हकलाने लगा था और उसके मुँह से शब्द साफ नही निकल पा रहे थे। राह चलते कुछ आदमियों का ध्यान इधर खिच आया था। वर्मा बड़ी दवसट में फँस गया था। उसे इस तरह गरमागरम तर्क करना भी बुरा लग रहा था और चुप रह जाना उसे स्वीकार नही था। कॉफी हाउस के पास चन्द्रनाथ की बाँह पकड़कर ले जाते हुए वह बोला, "यहाँ सड़क पर मत चीख़ो, आओ बैठकर बातें होंगी···आओ।"

बातचीत के उसी तूफ़ान मे हम लोग कॉफ़ी हाउस की एक मेज़ के इर्द-गिर्द बैठ गये। चन्द्रनाथ सचमुच बहुत भरा हुआ था, "यह तुम्हारी आदत है वर्मा। एक-न-एक बात तुम ऐसी शुरू कर देते हो जिस पर गुस्सा आता है। सारी दुनिया के दीन-ईमान, भलमनसाहत और अच्छाई का ठेका तुमने जबरदस्ती ले रखा है। तुम्हे दुनिया मे सब आदमी बुरे नज़र आते हैं···"

तभी कॉफ़ी आ गयी और बात बदल गयी, पर चन्द्रनाथ उसे फिर खीच लाया, "हाँ वर्मा साहब, अब कहिए। क्या कहना चाहते है?"

"कुछ नही यार, पर तुम्हारा यह रुख़ देखकर बुरा लगता है···और क्या है।" वर्मा ने टालने के लहजे मे कहा।

"मुझे ऐसी औरतों से चिढ है, ये खोखली हैं, इन्हें दुनिया मे सिर्फ़ आदमी की बाँहें चाहिए। मरी हुई आत्माओं की ये लाशें बदबू करती हैं, इन्होने नौजवानों को रास्तों से उतारकर गन्दी खाइयों मे फेंक दिया है— हताश और भटकते हुए आदमियों के बचे-खुचे आदर्श और महत्त्वाकाक्षाएँ इन सड़ी हुई औरतो ने छीन ली हैं, इन्हें गुमराह किया है। चन्द्रनाथ का हाथ मेज़ पर काँप रहा था।

"चोट खा गया है भाई। लड़का चोट खा गया है कही।" बिशन ने वातावरण हलका करना चाहा। पर चन्द्रनाथ पर जैसे भूत सवार था, इस फबती को नकारते हुए वह वर्मा की ओर ताकते हुए बोला, "और आप मुझे नैतिकता का पाठ पढा रहे हैं। उन्हें जाकर समझाइए जो चार बजे से मेक-अप करते-करते शाम को छह बजे सिर्फ़ इसीलिए निकलती हैं। इनके प्रति श्रद्धा तब हो, जब हम इन्हें खेतों में काम करते देखें, इंजनो को चलाते देखें, फ़ैक्टरियों में खटते देखें, बिजलीघरों मे पसीना बहाते देखें। हम इन्हें काम में लवलीन देखें। रँगे हुए नाख़ून, पुते हुए होंठ, खुले हुए पेट और आँख में काजल की लकीरें इस बात का बुलावा है कि इन्हें श्रद्धा की नही, सिर्फ़ वासना की नज़र से देखो। और आप मुझसे नैतिकता की बात करते हैं!"

अपने दिमाग के ख़लल के कारण मैं हर बात को दार्शनिकता का पुट देकर गम्भीर बना देने के लिए मजबूर हूँ, इस बीच मैं गूँगा था, अब एक

सूत्र हाथ आया तो मैं बोल ही पड़ा, "नैतिकता या सहज संयम व्यक्ति के हाथों के बाहर है, सामाजिक और वैयक्तिक आचरण के स्तर आदमी ने समाज के सन्दर्भ में बनाये है और हमेशा की तरह मैं अपनी ही बात में उलझ गया। पता नहीं क्या हो जाता है कि सोचता हूँ तब सब साफ़-साफ़ दिमाग में होता है और बोलते ही साफ़ बात भी उलझ जाती है और मैं यह महसूस करता हूँ कि जो कहना चाहता था, वह नही कह पाया। ऐसे मौकों पर बिशन नही चूकता। मेरी बात को बड़ी व्यग्यपूर्ण मुद्रा से सुनते हुए उसने कहा, "हाँ भाई, अब गीता-प्रवचन आरम्भ हुआ। अर्जुन सुनो!" और उसने चन्द्रनाथ की बाँह हिलाकर मेरी ओर मुख़ातिब कर दिया।

"आप भी कहिए।" चन्द्रनाथ ने मुझसे कहा। ऐसे में मेरी हालत बहुत पतली हो जाती है, पर चुप रहकर अपनी मजबूरी या बेवकूफी का प्रदर्शन करूँ, यह बरदाश्त नही होता। अपने को बहुत सँभालते हुए मैंने कहा, "मेरा मतलब यह है कि···" बिशन ने बात काटी, "पहले मतलब समझा दीजिए, बात बाद मे सुनाइएगा।"

"बोलो-बोलो।" चन्द्रनाथ बात करने के मूड में था। बडे साहस से फिर मैंने कहा, "मेरा मतलब यह है कि सभी नैतिकताओं का जन्म समाज मे हुआ है। नैतिकता की भावना ही समाज ने दी है, आदमी अकेले मे घोर अनैतिक है।" बात तो मैंने कह दी पर मैं इसे किस जगह फ़िट करना चाहता था या कौन-सा निष्कर्ष निकालना चाहता था, यह मेरी समझ के बाहर हो गया था।

"आप कहना क्या चाहते हैं?" बिशन ने प्याला सरकाकर मुझसे लोहा लेने के अन्दाज में कहा, "यह तो कुछ इस तरह की बात हुई कि चार दोस्त साहित्य या कला के बारे मे बात कर रहे हों और आप उसी गम्भीरता से कहें—मुझे आलू की सब्जी पसन्द है। नैतिकता के ऊपर आखिर आप क्या प्रवचन देना चाहते हैं, साफ़-साफ़ कहिए, उसका सिरा किसी तरफ जोडिए, ये बेसिर-पैर की क्या बात हुई? अच्छा पर्स निकालिए और आज का बिल पे कीजिए।"

मैं चुप ही बैठा रहा। वर्मा ने फिर बात शुरू कर दी, "ये कह रहे थे कि जहाँ चार आदमी होते हैं वहाँ सब पर लगाम लगी रहती है? पर

अकेले मे हर आदमी लगाम छुडाकर भाग खड़ा होता है। क्यो, है न?" वर्मा ने मेरी ओर ताका।

ये निष्कर्षवादी आदमी हैं।" विशन बोला, "आप कह डालिए जो भी कहना हो···"

"वर्मा साहब ने मेरी बात कह दी।" मैंने कहा तो चन्द्रनाथ ने पानी का घूंट लेते हुए मुँह बिगाडा, बोला, "नैतिकता आदमी की अपनी चीज है, उसका समाज से कोई सम्बन्ध नही। आदमी नैतिक या अनैतिक होता है, पतित या महान् होता है—समाज नही।"

"लेकिन जीवन के सब अच्छे मूल्य, जिनमें नैतिकता भी एक है, समाज मे जन्म लेते है।" मै अपनी बात साफ करना चाहता था, "समूह के बोध के साथ ही अच्छी जिन्दगी के लिए नियम बनाये गये। उन नियमो का उपयोग भी समूह मे ही है, अकेले आदमी के लिए वे व्यर्थ है, जरूरत ही नही उनकी। मेरा मतलब···" मैं फिर उलझ गया था।

"इसी को हरा लो भाई।" विशन ने मेरी ओर इशारा किया, "हारेगा तो पे करेगा।" शायद मेरी रूखी बात से सबका मन उचट चुका था। चन्द्रनाथ शान्त हो चुका था और वर्मा सन्तुष्ट तो नही था पर चुप जरूर था। विशन को बराबर मजाक सूझ रहा था। मेज पर बड़ी उदास खामोशी-सी छा गयी थी। सभी को ऐसा लग रहा था कि यह बेकार की बहस और व्यर्थ की बातें क्या कर पायेंगी? चारों जने एक-दूसरे से नहीं, अपने से असन्तुष्ट नजर आ रहे थे···हमारी मण्डली में अकसर ऐसा होता था। चन्द्रनाथ ऐसी बहसो के बाद बहुत घुटा-घुटा महसूस करता था। उस दिन वह पूरे रास्ते गुमसुम-सा घर तक आया। शायद उसे सुबह का इन्तजार था।

कुन्ती के घर की ओर चन्द्रनाथ का आकर्षण बढ़ता ही गया। और उस दिन से चन्द्रनाथ की हरकतें और भी खुलती गयी। मैंने देखा, वह डायरी लिखने लगा था। एक दिन चोरी से मैंने उसकी डायरी निकालकर पढ़ी। कुछ पन्नों पर पहले की लिखी इबारत थी जिसमें खर्च इत्यादि का वृत्तान्त था। कुछ कोरे पन्नो के बाद जो कुछ भी लिखा था, उसे पढ़कर

रोमाच हो आया, साथ ही गुस्सा भी आया और दुःख भी हुआ। बीस-पचीस पृष्ठ निहायत गन्दे वर्णनों से भरे थे, जिनमें कुन्ती के अंग-प्रत्यग का विशद खाका खीचा गया था, कही मन को अकुलाहट थी तो कही खीझ। लेकिन उसमें सब साफ-साफ़ और खुलकर लिखा गया था। जो उपमाएँ और प्रतीक उसने इस्तेमाल किये थे, वे किसी भी तरह रीतिग्रन्थो की परम्परा से हेठे नहीं थे। चन्द्रनाथ के मन का उबाल और उसकी पाशविकी इच्छाओं के वे उद्गार सचमुच भयकर थे। उस दिन से मुझे थोडा ख़ौफ़ भी लगने लगा था, किसी भी आदमी का क्या पता? कही यह कुछ ऐसा-वैसा न कर डाले। इस शरीफ मुहल्ले में रहने लायक नहीं रह जाऊँगा…।

और तब से वह निर्द्वन्द्व भाव से कुन्ती के घर की ओर ताका करता है, जिसके पत्थर के खम्भों की नक्काशी और तराश, फ़र्श पर रग-बिरंगे टाइल्स की डिज़ाइनें और बरामदे की कॉर्निस पर बने बेल-बूटों से सामन्ती घराने का अहसास होता था। कुन्ती का पति अधिकतर घर से बाहर रहता था—फिनले की महीन धोती, काला चमचमाता हुआ पतली टो का पम्प जूता और चुन्नट पडा हुआ कुरता पहनकर वह निकल जाता था। वह शायद अपने किसी दोस्त के घर ही सारा समय गुजारता था। वह जुआ खेलने का शौकीन था और जब हारकर आता तो उँगलियों के बीच मे सिगरेट दबाये मुट्ठी बाँधकर बडे लम्बे-लम्बे कश खीचता। उसकी धोती की काँछ ढीली होकर झूलती होती। उसका सौतेला लड़का इन सब बातो की ओर से उदासीन था और कुन्ती निश्चिन्त-सी अपना दिन शुरू करती।

वह आत्मलीना कुन्ती चन्द्रनाथ का एक कार्यक्रम बन गयी थी। रोज सुबह आठ बजे के क़रीब वह गुस्लखाने में जाती और दस-बारह मिनिट बाद नहाकर निकल जाती। उन्ही भीगे कपड़ों में वह बरामदे मे पड़े तख़्त पर खड़ी होती और बड़े ही भूले-भूले ढंग से, बिलकुल बेफ़िक्र होकर एक-एक कपडा उतारती जाती। चन्द्रनाथ साँस रोके वही खिडकी पर खड़ा होता। कपड़े उतारकर वह अपने अग-प्रत्यग को बडे चाव और गौर से देखती। बडे इत्मीनान से वह तौलिया से पानी सुखाती और उसी अवस्था में भीतर शृंगार-मेज पर चली जाती। चन्द्रनाथ की एकाध बहुत गहरी साँसें सुनायी पडतीं और उसका अग-अग थिरकता होता। वह पैर बदल-बदल

कर खड़ा होता, सूखे गले को थूक निगल-निगलकर तर करता और जब तक कुन्ती अपने कपड़े पहनकर उस कमरे से ओझल न हो जाती, वह अपलक उधर ताकता रहता। उसके जाते ही वह हथेलियों से आँखें रगड़ता और वैसे ही आँखें मूँदे हुए अपनी खाट पर आ गिरता। अनजाने ही कुन्ती उसके अस्तित्व पर छाती जा रही थी। हमारे कमरे मे जैसे वह हर समय उपस्थित रहती।

कभी-कभी लगता कि कुन्ती अपने घर में बड़ी उदास और क्लान्त है, जैसे उसने अपना मुँह सी रखा है और अब उसने अपनी समस्त आत्म-चेतना अपने शरीर पर केन्द्रित कर रखी है। हर रोज़ नहाने के बाद वह अधिक आत्मलीन दिखाई पड़ती, जैसे वह अपने शरीर के रोम-रोम मे पानी देती हो और प्रतिदिन उत्सुकता से अपने विकास को निहारती हो। बड़े ही हलके हाथ से वह शरीर पोंछती, तन के एक-एक अंग को सहेज-सहेज कर रखती, शायद उसका तन किसी की प्रतीक्षा मे हो, शायद उसने किसी को वचन दिया हो कि यह ढलने नही पायेगा—मैं तन-मन से तुम्हारी प्रतीक्षा करूँगी, जैसा छोड़कर जा रहे हो वैसा ही पाओगे, एक रोम तक इधर से उधर नही होगा। जिस तन्मयता और एकाग्र भाव से वह यह सब करती, उसमे न जाने ऐसी कौन-सी बात थी कि मन छटपटाने लगता था। शृंगार-मेज़ पर खड़ी होकर वह सारे शरीर पर पाउडर छिड़कती और एक-एक मोड़ को ध्यान से देखती, कपड़े पहनते ही उसकी यह तन्मयता समाप्त हो जाती थी—वह एकदम कोई दूसरी औरत हो जाती कभी-कभी वह शीशे के सामने खड़े होकर बाल सँवारते हुए तीन-चार बालों को पकड़कर उनमे से एक तोड़कर पल-भर देखती और फेंक देती। निश्चय ही वह सफेद बाल होता होगा—सचमुच तब उसे कितनी ठेस लगती होगी, उस क्षण उसके मन मे कैसी बेबसी व्यापती होगी, उसके मुख पर क्या-क्या भाव आते-जाते होंगे, यह काफी स्पष्ट न हो पाया। शायद उसकी आँखों की कोरें गीली हो आयी हो या एक बहुत गहरी साँस ही निकली हो, पर दीवारों की वह दूरी न उन भीगी आँखों को देखने देती थी, न पीड़ा से भरी वह आवाज़ ही इस पार आ पाती थी।

चन्द्रनाथ में इधर बहुत अन्तर आ गया था। अनजाने ही वह कुन्ती के पति की आलोचना करने लगता, "वह जुआरी है, सुबह से रात तक जुआ खेलता है। और जाने कितने ऐब उसमे होंगे, पीता होगा—कभी पत्नी से ठीक तरह बात करते नही देखा—मुझे तो शक होता है कि यह उसकी बीवी है भी या नही।"

"तुम्हें इससे क्या लेना-देना ?" मैंने कहा तो चन्द्रनाथ के चेहरे पर वहशी चमक बिखर गई। अपने हाथ से माथे के बाल झटके से हटाते हुए बोला, "मैं इस औरत को लेकर भाग जाऊँगा।"

मैं स्तब्ध रह गया। एक क्षण बाद मैंने स्थिति को भाँपने के लिए पूछा, "कभी मिलना-जुलना हुआ कि बस यूँ ही ?"

"मिलने-जुलने की कौन-सी जरूरत है।" कहते हुए वह उठकर टहलने लगा, "उसने कभी मेरी तरफ़ देखा भी नही। न देखे ! पर मैं एक दिन इसे डाकुओ की तरह घर से उठा ले जाऊँगा। किसी औरत को यह हक नहीं कि वह अपनी जिन्दगी यूँ ही ख़राब कर दे, जो उसे पाना चाहिए उसे वह नकार दे !"

"इससे तुम्हें *क्या* ? वह *क्या* पाती है *क्या* नही, यह तुम्हारा मसला नही है। हर आदमी अपने बारे मे सोचने के लिए स्वतन्त्र है···"

"ये सब बेकार बातें हैं। मुझे तुम लोग सीख मत दिया करो। वह मुझे नही चाहेगी, न सही। वह मेरी नही होगी, न सही। पर जो मुझे चाहिए वह मैं लेकर रहूँगा। पुलिस में दे देगी—बस।" वह अपने से कह रहा था और उसके हाव-भाव और चेष्टाओं मे भीषण और असुन्दर सकेत उभरते जा रहे थे। उससे ज्यादा बात करने का मतलब होता—शालीनता की सीमा से बाहर चला जाना। अभी वह बहुत लगाम लगाकर बात कर रहा था, किस क्षण उसके भीतर की दबी हुई गन्दगी फूट पड़ेगी, यह कहना कठिन था। फिर भी उसने बुदबुदाने के अन्दाज में कुछ बहुत ही अशोभन और कुत्सित बातें कह डाली, जो उसकी जबान से नही निकल पायी वे हाथों के इशारो से प्रकट हो गयी। दोनो मुट्ठियाँ बाँधे और दाँत भीचे हुए वह कठोर कदमों से कमरे में पागल जानवर की तरह चक्कर काटने लगा, उसकी समस्त इन्द्रियाँ केवल एक ही बिन्दु पर केन्द्रित थी—कुन्ती। हाड़-

मांस की कुन्ती। उसकी कनपटियाँ रह-रहकर तमक रही थी और बालों के नीचे माथे पर पसीने का गीलापन चमक रहा था। चक्कर काटते हुए जब उसकी परछाईं दीवार पर पड़ती तो उसके व्यक्तित्व की भयानकता और भी बढ़ जाती।

उस रात वह बहुत परेशान रहा। खाट पर पड़े-पड़े उसकी नसें फटती रहीं और वह करवटें बदलता रहा। सुबह उसका चेहरा फूला-फूला और मुख पर बेहद सूखापन था। आँखों के नीचे काले घेरे दिखाई दे रहे थे। नाखूनों की किनारियों पर सफ़ेदी की लकीरें थीं। लगता था कि वह किसी लम्बे सफ़र से लौटा है। मुँह धोने के बाद उसके चेहरे की ख़ुश्की और बढ़ गई थी। बार-बार वह जीभ फेरकर अपने सूखे हुए होंठों को तर कर रहा था—सिर्फ़ पैण्ट पर पेटी बाँधकर वह साढ़े सात बजे से खिड़की पर खड़ा था—हाथ में पेन्सिल थी जिसे वह ब्लेड से लगातार काटता जा रहा था।

घोर अकुलाहट से भरा वह दिन तो घटनाहीन बीत गया, पर उसके बाद वह और भी परेशान नज़र आने लगा। उसके शरीर की स्फूर्ति और आँखों की बुद्धिमत्तापूर्ण चमक लुप्त हो गयी थी···उन आँखों में जैसे पशुता-भरी मूढ़ता और जंगलीपन समा गया था। उसका सुन्दर चेहरा बिगड़ गया था।

रात को वह गहरी नींद सोने का आदी था, वह नींद कहीं दूर उड़ गई थी। एकाएक चौंककर वह जाग जाता और काफ़ी-काफ़ी देर तक कमरे में चक्कर काटता रहता। अभी तक वह अपने कपड़े लापरवाही से इधर-उधर अलमारी के कोनों या बक्सों पर लटका या फेंक दिया करता था। अब वे कोने में रखे होल्डॉल की जेबों में रखे जाने लगे। वह अपने पहने हुए कपड़े बहुत एहतियात से छिपाकर रखता। रात में अचानक कभी उठता तो चोरों की तरह मुझ पर निगाह डालता, बड़े साध-साध कर क़दम रखकर अपने बक्स के पास पहुँचता। आहिस्ता से उसे खोलता और पैंजामा बदलकर फिर लेट जाता। पंजों के बल चलकर वह पहना हुआ पैंजामा कहीं इधर-उधर सँभाल कर रख दिया करता था। अपने कपड़े भी उसने मेरे धोबी को देना बन्द कर दिये थे। एक अख़बार में सारे कपड़े

लपेटकर वह हर हफ़्ते नई वाशिंग कम्पनियों में दे आता। उसकी बातों की वह तेज़ी और चाल की अल्हड़ स्वाधीनता खो गई थी। सुबह खाट पर पड़े-पड़े वह अँगडाइयाँ लेता, श्लथ और थके क़दमों से उठकर इधर-उधर के काम करता।

इतवार के दिन अकस्मात् कुन्ती के घर मे कुछ हलचल दिखाई दी। चन्द्रनाथ सुबह साढे सात से साढ़े नौ बजे तक खिडकी की दरार से आँखें फाडे देखता रहा, पर वह नहाने नही आयी। धीरे-धीरे जब वह एकदम हताश हो गया तो मेरे पास आकर बोला, "सामने वाले घर में कोई बात हो गयी।"

"क्या बात हो सकती है? क्यों, वह नहीं आयी आज?" मैंने पूछा, तो उत्तर में चन्द्रनाथ ने सिर हिलाकर 'न' कर दिया।

"आज उसका आदमी घर पर है शायद।" मैंने बात कुरेदनी चाही। अपनी खिडकी के पल्ले खोलते हुए चन्द्रनाथ बोला, "शायद है। देखो, आज ऊपर वाले कमरे भी बन्द पडे है, खिड़कियाँ तक नही खुली, कोई बात जरूर है वरना ऐसा कभी नही हुआ। हो सकता है, वह बीमार हो।" फिर कुछ सोचते हुए उसने कहा, "तुमने कुछ ऊँची-ऊँची आवाज़ें नही सुनी?"

"मैने ध्यान नही दिया···"

"उधर वाली गली में एक टैक्सी आकर रुकी थी, शायद किसी के जाने के लिए बुलायी गयी थी। आधा घण्टा रुककर टैक्सी खाली ही वापस चली गयी। उसका आदमी घर से निकला था, टैक्सी वाले खडे होने के कुछ पैसे देकर वह तेज़ी से घर मे लौट गया था।" चन्द्रनाथ चिन्तापूर्ण ढंग से सब बातें बता रहा था, "एक बार ऊपर वाले कमरे की खिडकी खोलने की कोशिश की गयी, पर उसके पति ने झटके से उसे बन्द कर चटकनी चढा दी, आखिर खिडकी क्यों नही खोलने दी गयी?"

"अब मैं क्या बताऊँ?" कुछ खीझते हुए मैने कहा। चन्द्रनाथ ने मेरी खीझ पर ध्यान न देते हुए बात जारी रखी, "कुछ तेज-तेज बातें भी हुई है। कुन्ती की आवाज़ मैंने सुनी, पर वह कह क्या रही थी, नही समझ पाया। कोई बात है ज़रूर।" कहकर वह चिन्तातुर-सा कमरे में चक्कर

काटता रहा।

हमारी यह बात हो ही रही थी कि कुन्ती के घर से अजीब-अजीब आवाज़ें आने लगी। कुछ भी साफ़ नही सुनायी दे रहा था। बन्द कमरे मे उसकी और उसके पति की आवाज़ें गूँज रही थी, गिरजे-सा शान्त वह घर अचानक कोलाहल से भर गया था। शायद कुन्ती ने खिड़कियाँ खोलने की कोशिश की थी—तभी उसके पति की आवाज़ सुनाई पडी, "मुहल्ले वालों को सुनाना चाहती है। समझती है मेरी इज़्ज़त ख़राब कर लेगी। हट···हट···हट यहाँ से···" और खिड़की के बन्द होते ही वह आवाज़ें फिर घुट गयी थी, जैसे किसी ने तेज़ बजते रेडियो का स्विच ऑफ़ कर दिया हो। फिर कुन्ती की एक भयकर चीख़ सुनाई दी। अब उसकी काफ़ी ऊँची आवाज़ बाहर तक आ रही थी, "मैं नही रहूँगी, अभी तेरी पोल खोलूँगी, तेरी एक-एक बात दुनिया को सुनाऊँगी, तेरी···" उसकी आवाज़ भर्राकर रुक गयी थी।

"तुझे रोकता कौन है, तू जा, चली जा ! जहाँ जाना हो। पर शरीफ की बीवी है, शराफ़त से जा···"

"अब शराफ़त का कौन-सा सवाल रह गया, मैं नही समझती थी कि तू इतना ज़लील है। तू औरत पर हाथ उठा सकता है···" वह चीख़ रही थी।

चन्द्रनाथ के नथुने फूल आये थे। वह अपनी जगह खड़ा-खड़ा कसमसा रहा था। उसके चेहरे पर ख़ून छलछला आया था—उस शरीर के साथ ऐसी बेरहमी ! उस संगमरमर के शरीर से भी कोई इस जगलीपन से पेश आ सकता है ? उफ़, न जाने कहाँ-कहाँ पर मारा होगा उसने। जिस तन से किरनें फूटती है और जो बदन अपनी ओर चुम्बक की तरह खीचता है, जिसके पोर-पोर को धीरे-धीरे छूने के लिए मन ललकता है, जिसे बाँहों मे घेर कर बेसुध हो जाने को मन करता है, वह केले-सा शरीर—उस पर इतना अत्याचार ! ऐसी अमानुषिकता। अपनी आस्तीनें चढाता हुआ वह बोला, "आओ, चलकर देखें ज़रा उस बदमाश को !"

"हम जाकर क्या कर लेंगे ? दरवाज़े बन्द हैं।" मैंने जवाब दिया।

"दरवाज़ा तोड़कर नही घुसा जा सकता ? आओ···" वह बोला।

"नादानी नही करते, समझे ! यह उनकी आपसी लड़ाई है, थोडी देर वाद सब ठीक हो जाएगा। वह उसी आदमी की गोद मे सिर छिपा लेगी और वही आदमी उसे फिर प्यार करेगा। समझे !" मैने कहा तो चन्द्र-नाथ को बहुत बुरा मालूम हुआ। वह मेरे कथन की चित्रात्मक स्थिति को स्वीकार नही कर पा रहा था। उसके भिंचे हुए होंठ से लगता था कि यदि कुन्ती ने उस आदमी की गोद में सिर छिपा लिया और उसने कुन्ती को फिर प्यार किया तो अव चन्द्रनाथ नही करने देगा। वह कुन्ती को उसकी गोद से निकाल कर फेंक देगा, वह उन्हें साथ नही रहने देगा, वह उस पर अब किमी का अधिकार सहन नही कर पायेगा—उस शरीर पर किसी का कैसा भी स्पर्श बरदाश्त नही कर सकेगा···

एक क्षण कुछ सोचने के बाद वह धीरे से मुसकराता हुआ बोला, "होने दो लड़ाई, खूब होने दो, यहाँ तक हो कि वह उसे घर से निकाल दे। फिर वह जहाँ भी जायेगी, मैं साथ जाऊँगा और उसे लेकर कही बहुत दूर चला जाऊँगा। वह अगर किसी रिश्तेदार के घर जाना चाहेगी तो नही जाने दूंगा···" और उसी पागलपन की सनक मे वह अपना सूटकेस सँभालने लगा। "मुझे तैयार रहना चाहिए।"

"क्या बच्चों की तरह हरकतें करते हो। जानते नही हो, यह ऊँचे घराने के बिगड़े हुए आदमी का घर है···" मैं उसे समझाना चाहता था, "अगर ये लड़कर अलग भी होगे तो बड़े कायदे से। पति घर मे बैठा-बैठा देखता रहेगा और कुन्ती अपना सामान तैयार करेगी···अपनी माँग मे चलते समय सिन्दूर भरेगी, शृगार करेगी। उसका पति उसे रुपये देगा, हो सकता है वह गुस्से में रुपये न ले, फिर टैक्सी आएगी और एक नौकर साथ जाकर उसे घर तक छोड आएगा और इसके बाद वे वग़ैर एक-दूसरे के लिए रोये हुए एकदम अलग-अलग हो जाएँगे···न वह आयेगी, न यह बुलाएगा।" उसकी ओर देखकर मैंने बात पूरी की, "पहले जो टैक्सी आई थी, वह इसीलिए आई होगी···।" मैं कह ही रहा था कि कुन्ती का पति नीचे बरामदे में दिखाई दिया, उसके कपड़े मलगुजे और अस्तव्यस्त थे। तेजी से वह इधर वाले दरवाजे पर आया और खोलकर बाहर गली में निकल गया। चलने से पहले उसने दरवाजे पर ताला लगाया

मे गली पार करके सड़क की ओर मुड़ गया। वैसे वह कभी भी इस पीछे वाले दरवाजे से नहीं जाता था, पर वह मुँह बचाकर निकल जाना चाहता था।

दस मिनिट बाद ही टैक्सी फिर आयी। गली के नुक्कड़ पर उसे रोककर वह धड़धड़ाता हुआ आया और ताला खोलकर भीतर चला गया। भीतर पहुँचते ही उसने कमरे का दरवाजा खोलकर सामान आँगन में फेंकना शुरू कर दिया। वह बेहद गुस्से में था। दौड़-दौड़ा ऊपर गया, एक क्षण बाद कुन्ती को बाँह से घसीटता हुआ लाया और चीख़ा, "जो भी तेरा सामान हो उठा ले और मुँह काला कर···"

कुन्ती बाल बिखेरे हुए गुस्से में भरी चुपचाप देखती रही। चन्द्रनाथ कब उतरकर नीचे गली में चला गया, यह मैं नहीं जान पाया। वह गली में तेज कदमों से चक्कर काट रहा था, हर क्षण ऐसा लगता था कि वह अभी तूफ़ान की तरह कुन्ती के घर में घुस जायेगा, फिर क्या करेगा, किस तरह पेश आएगा, यह सोचकर मेरे रोंगटे खड़े हो गये।

तभी कुन्ती चीख़ी, "यह घर मेरा है, इसकी ईंट-ईंट मेरी है, तू चला जा यहाँ से और फिर कभी इधर क़दम रखने की ज़रूरत नहीं है।"

दाँत पीस कर उसका पति पास पड़ी एक लकड़ी से उस पर वार करते हुए चीखा, "बड़ी आयी है मकान वाली! निकल जा यहाँ से! एक तिनका तेरा नहीं है, मैं इसे बेचूँगा, रेहन रखूँगा, इसे खँडहर कर दूँगा—तुझसे मतलब? चली जा यहाँ से···"

और फिर जो दृश्य सामने आया वह भीषण था, पागलों की तरह रोती हुई कुन्ती चीख़ी, "मेरा कुछ भी नहीं है?"

"नहीं है। तिनका भी नहीं है···" वह आदमी उसे मारता हुआ चीख़ रहा था।

बड़ी ही कातर आवाज में कुन्ती रो पड़ी, "मुझे तेरा कुछ भी नहीं चाहिए···सब बिगाड़ दे···तेरा सब छोड़ जाऊँगी···सब छोड़ जाऊँगी···"

"छोड़ जा, सब उतारकर रख दे, एक-एक चीज उतार दे···"

और कुन्ती ने एक-एक ज़ेवर उतार कर आँगन में फेंक दिया, चलने के लिए जो चप्पल पैर में डाली थी वह भी झटककर एक ओर फेंक दी।

वह खड़ा हुआ होंठ चबाता हुआ सब देख रहा था और कुन्ती शरीर की एक-एक चीज़ उतार कर फेंकती जा रही थी, काँच की चूड़ियाँ टुकड़े-टुकड़े होकर आँगन मे बिखर गई।

वह सचमुच पागलपन की सीमा तक पहुँच गया था, बस एक ही बात उसके मुँह से निकलती थी, "सब उतार दे···सब उतार दे।" और उत्तर में अपने बदन की एक-एक चीज़ फेंकते हुए कुन्ती चीख़ रही थी, "ले ले, तेरी एक चीज़ जो इस बदन पर रहने दूँ।"

इतनी चीख़-पुकार और भयंकर वातावरण के बीच बड़ी ही मनहूस ख़ामोशी छायी-सी लगती थी। मैं हतबुद्धि-सा खड़ा रह गया और गली में चन्द्रनाथ वहशियों की तरह चक्कर काटता हुआ लगातार घूम रहा था, उसके कदमों से गली गूँज रही थी, पर उस गूँज मे दहशत भरी थी—कहीं कोई ख़ून न हो जाए। अब कुन्ती दरवाज़े के बाहर पैर रखने ही वाली है, और चौखट के बाहर क़दम रखते ही चन्द्रनाथ उसे बाज़ की तरह दबोच लेगा। देहरी से बाहर आते ही उसके सारे रिश्ते समाप्त हो जायेंगे, यही तो कह रहा था चन्द्रनाथ। हो सकता है, चन्द्रनाथ और कुन्ती दोनों ही उसके पति के हाथों मारे जायें, उस पर ख़ून सवार है और चन्द्र-नाथ पर पाशविक वासना।

"मैं तुझे नंगी करके निकालूँगा।" कुन्ती का पति क्रोध से काँपता हुआ चीख रहा था, "तू मुझे ज़लील करना चाहती है। तुझे ज़लीलों की तरह गली मे न निकाला तो अपने बाप का नहीं!···उतार साड़ी। ये तेरे बाप ने दी है! उतार साड़ी! निकल!"

और अब कुन्ती का पैर चौखट पर था। अभी एक कदम भीतर है, उसके बाल बिखरे हुए है और उस संगमरमरी शरीर पर सिर्फ़ एक साड़ी है। वह अपनी बाँहें छाती पर भीचे हुए है, एक ओर की साड़ी खुलकर लटक गयी है और उसकी चोट खायी पिण्डलियाँ गाजर के गूदे की तरह चमक रही हैं···

चन्द्रनाथ लपककर कुछ कदम आगे बढ आया। वह चीते की तरह उछलकर झपटना ही चाहता था कि ठिठक गया। कुन्ती के कदम अपनी देहरी पर अटक रहे है, वह बुरी तरह काँप रही है और बदहवा—

चारों ओर देख रही है, उसने छाती पर अपनी बाँहें और भी कड़ी कर ली हैं, पैर के फूटे हुए अँगूठे से ख़ून बह आया है···

क्रोध के आवेश में उसके पति ने उसे एक धक्का दिया और अटकता हुआ पैर सँभालती हुई वह हाथों के बल ज़मीन पर आ गिरी। साड़ी का पल्ला छाती से सरक गया और उसका आधा शरीर नंगा हो गया···

चन्द्रनाथ पत्थर की मूरत की तरह निश्चल खड़ा आँखें फाड़े देख रहा था। उसके पैर जड़ हो गये थे···

कुन्ती सँभलकर एक क्षण में उठी और गली में उतर गयी। लपककर उसके पति ने घिसटती हुई साड़ी का पल्ला पैर से दाब लिया और चिल्लाया, "इसे भी उतार कर जा। इसे भी···।"

कुन्ती ने आग उगलती आँखों से उसे ताका, "उतार दूँ?"

"उतार दे···चली जा।" दोनों पसीने से लथपथ आग में जलते हुए काँप रहे थे। चन्द्रनाथ को काठ मार गया था।

और एक क्षण बाद ही कुन्ती ने कमर से साड़ी खोलकर वहीं छोड़ दी और एक भयानक चीख़ मारकर वहीं घुटनों में अपना मुँह और छाती दबाकर निस्तब्ध हो गयी। उसके बाल आगे-पीछे बिखर गये थे।

सगमरमर-सा वह शरीर एकदम अनावृत था। सिर्फ़ कुन्ती की भयंकर पुकारें और दिल को चीरता हुआ रोने का स्वर सुनाई पड़ रहा था। चन्द्रनाथ बाज़ की तरह झपटा, "यह क्या किया?" और उसने अपनी कमीज़ उतारकर उसके सिर और मुड़ी हुई टाँगों पर रख दी, उसके हाथ बेतरह काँप रहे थे, जैसे कुन्ती के शरीर का स्पर्श होते ही झुलस जायेंगे। वह कमीज़ भी ठीक से उसके तन पर नहीं रख पा रहा था। न जाने कैसी आग की लपटें उसके तन से फूट रही थीं कि चन्द्रनाथ चौंक-चौंक कर अलग हो जाता···।

उस बदहवासी में मैंने पास पड़ी खाट की दरी खिड़की से नीचे फेंक दी। चन्द्रनाथ थरथराता हुआ हकला-हकलाकर बोल रहा था, "इससे ढक लो···इससे ढक लो···"

और पागलों की तरह कुन्ती ज़ोर-ज़ोर से सिर हिलाकर 'नहीं-नहीं' करती जा रही थी···

"मैं तुम्हारे पर पकड़ता हूँ। इससे ढक लो।" कहते हुए चन्द्रनाथ ने वह दरी उसके ऊपर डाल दी। एक झटके मे कुन्ती ने उसे फेंक दिया।

मैं उतरकर नीचे पहुँच गया था। गली मे बढ़ती हुई भीड़ देखकर चन्द्रनाथ के हाथ-पैर फूल आये थे।

"तू हट जा ! तू हट जा।" कुन्ती जोरसे चीखी। चन्द्रनाथ की समझ से सब बाहर हो गया था; बुरी तरह छटपटाता हुआ बोला, "माँ, तुझे अपने बेटे की कसम ! ढक ले माँ···" और कोई रिश्ता उसकी समझ में नहीं आया था। यही तो आखिरी रिश्ता रह जाता है जिससे ग़ैर भी अपना हो जाता है, और उस दरी से ढँककर उसने कुन्ती को गठरी की तरह उठाकर दरवाजे के भीतर लुढ़का दिया। बाहर से साँकल चढ़ाकर वह विक्षिप्त की तरह दौड़ा हुआ अपने कमरे में आया और खिड़की की चटकनी चढाकर मुरदे की तरह खाट पर पड़ रहा। पड़ा-पड़ा वह यों रोता रहा। बहुत मनाया, पर वह चुप न हुआ।

उस दिन से बात-बात पर उसकी आँखें भर आती हैं, उसकी आँखों में हर समय बादल मँड़राते रहते हैं। न मज़ाक सह पाता है न हँसी, बात-बात में रो पड़ता है। मुझसे कहता है, "[illegible], अब कहीं अच्छा नहीं लगता।"

प्रेमिका

शहर के एक पुराने मुहल्ले की पतली और बदबूदार गली मे एक मकान था। मकान पुराना था। इसमे एक नौकरीपेशा मुशीजी रहते थे। मुशीजी एक मिडिल स्कूल मे मास्टर थे। उनके पास एक पैजामानुमा नीली पैण्ट थी और एक ऊनी कोट, जिसके रोएँ झड गये थे और वह सुतली का बुना लगता था। सिर पर वह गोल कत्थई टोपी पहनते थे, जिसमे तेल से भीगा एक अखबार का टुकड़ा अस्तर का काम देता था। एक बहुत पुरानी मोटी-सी छड़ी वह हाथ मे लेकर चला करते थे। एक दूर-पास की नजर वाला दोहरा चश्मा उनकी आँखो का सहारा था, जिसकी एक कमानी हरे डण्ठल की तरह एक जगह से लचक गयी थी। रस निचोड़े हुए गन्ने की तरह उनकी एक पत्नी थी। सन्तान का सुख उनके भाग्य मे था। उनके पाँच बेटे और तीन बेटियाँ थी। दुःख और कष्ट के समय रामायण उनका सहारा थी। आधुनिक सवारियों मे साइकिल घर के मरदों की सवारी थी। जरूरतों मे सबके पास नये-पुराने जूते और चप्पलें थी। शौक के लिए वे दिन-भर मे दो गिलौरी पान खाया करते थे।

उनका एक बडा लड़का था। वह दसवाँ पास करके कई साल से इधर-उधर घूमा करता था। चार बेटे छोटे थे। तीन लड़कियो मे दो अभी बच्ची थी, एक लड़की बड़ी थी जो

दसवें में पढ़ रही थी। सोलह बरस की कमला अपने बालों में गोले का तल डालती थी। माथे पर नेलपॉलिश की सुर्खी से बिन्दी बनाती थी। महीने मे एक बार पेटीकोट बदलती थी। अपने छोटे भाई-बहिनों के लिए काजल पूरती थी, पर खुद इस्तेमाल करती थी। रोज़ धो-धोकर बालों मे रिबन बाँधती थी और बी० ए० में पढने वाले एक लड़के से प्रेम करती थी। यह प्रेम अधिकतर पत्रों के द्वारा चलता था, वैसे दृष्टि-स्पर्श और आहों का सहारा भी था। वह यह भी जानती थी कि समाज नाम की कोई वस्तु होती है जो प्रेमी और प्रेमिका के बीच पहाड़ की ऊँची चोटी की तरह खड़ी हो जाती है और उन्हें मिलने नहीं देती। प्रेमी ऐसे मे पागल हो जाता है और प्रेमिका विरह की आग मे जलकर भी न कोयला हो पाती है न राख। पर प्रेमी-प्रेमिका इसी तरह जीते है और एक-दूसरे की याद मे ज़िन्दगी काट देते है और उनकी कहानी दुनिया में मशहूर हो जाती है—लैला-मजनूं की तरह। या फिर नागिन फ़िल्म की तरह प्रेमी-प्रेमिका दोनों मर जाते हैं और परलोक में जाकर कहीं मिलते है, उनका अमर मिलन होता है; जैसे बैंजू बावरा का हुआ था।

उसके घर एक लड़का और आता था, वह उसके प्रेमी का दोस्त भी था। पर प्रेमी-प्रेमिका दोनो उस लडके से अपना राज़ छिपाया करते थे। एक दिन उसे कही से कुछ पता चल गया। उसने लडकी के बड़े भाई से शिकायत कर दी कि कमला वीरेन्द्र से प्रेम करती है और वे एक-दूसरे को प्रेम-पत्र भी लिखते है, छिप-छिपकर मिलते हैं।

कमला के बड़े भाई ने कमला को बुलाकर बहुत डांटा और कहा कि रतन कल शाम घर आया था और बता गया था कि वह वीरेन्द्र को छिपा-छिपाकर खत लिखती है। सुनकर कमला की आँखों में आंसू आ गये थे। रोते-रोते उसने अपने भाई से कहा था कि यह सब एकदम झूठ है। पर मन बहुत घबराने लगा और यह भी पता चला कि क्रूर समाज नाम की वस्तु उसके दादा और रतन हैं। रात को बड़ी देर तक वह रोती रही। वीरेन्द्र के पुराने पत्रों को सीने से लगाये सिसकती रही। आधी रात के बाद जब घर के सब लोग सो गये तो उसने अपने दादा को एक पत्र लिखा :

प्रेमिका /

"प्यारे दादा,

इतना बड़ा कलंक का टीका माथे पर लगाकर मैं कैसे जीऊँगी! जमीन फट जाती और मैं उसमें समा जाती या फिर मैं अभागिनी—जो अपने परिवार के लिए भार बन गयी हूँ, कहीं डूब मरती। मेरे कारण घर-भर बदनाम हो सकता है। मैंने जन्म ही क्यों पाया, जो आपको मेरे सम्बन्ध में यह सब सुनना पड़ा। मुझे आप लोगों ने प्यार ही क्यों किया? मैं इस योग्य ही नहीं थी। मेरे कारण पिताजी के नाम पर धब्बा आये और शरम में आपको माथा झुकाना पड़े, यह मैं अपनी इन आँखों नहीं देख सकती। मैं आपकी बहन हूँ, पर साथ ही अबला भी। नारी का जीवन घर के लिए भार होता है। मैं भी भार बन गयी शायद। पर दादा, मैं सौगन्ध खाकर कहती हूँ कि मैं जानती भी नहीं कि धीरेन्द्र कौन है। मैंने पहली बार आपसे यह नाम सुना। यह उस रतन की गढ़ी हुई बात है। वह खुद मुझसे तमाम तरह की बातें करता है, मैं इस पवित्र लेखनी द्वारा वह सब आपको लिख भी नहीं सकती। स्कूल जाते वक़्त वह मेरा रास्ता काटता है और मुझे क्या-क्या और कैसे-कैसे इशारे करता है, यह बताना बहुत मुश्किल है। आप खुद उसका आना-जाना घर में रोक दें तो बहुत अच्छा हो। मैं अपने कारण कुल की लाज पर कोई कलंक नहीं आने दूँगी। ऐसा कुछ भी करने से पहले मैं मर जाना पसन्द करूँगी। मैं अभागिनी अगर मर भी गयी तो आपके लिए दो बहनें और हैं। मेरी याद भी आप लोगों को कभी नहीं सतायेगी। अपने देश में कुमारियों ने अपनी लाज की रक्षा के लिए जीवन तक बलिदान किये हैं, मैं उसी देश की सन्तति हूँ। आपकी बहन आपकी इज्जत का हमेशा ध्यान रखेगी। दादा, मेरी बात का विश्वास करना। लड़की कुल की लाज होती है, यह भूमण्डल में विदित है। मैं कुल की लाज पर आँच नहीं आने दूँगी।

आपकी अभागिन किन्तु आज्ञाकारिणी बहन
कमला"

इस पत्र को उसने भारतीय नारी की गरिमा से भरकर आँसुओं से धोया। फिर कापी में से एक कागज और फाड़कर लिखने लगी :

"आदरणीय रतन भइया !"

पर इस सम्बोधन को काटकर उसने नये सफ़े पर लिखा :

"परम पूज्य भाईजी,

सहसा मेरा पत्र पाकर आप आश्चर्य से भर उठेंगे। पर जब बहन की ममता उमड़ ही पड़ी तो आप बड़े भाई बनकर स्वीकार करेंगे। मैं अपना आँचल फैलाकर आज आपसे कुछ माँगना चाहती हूँ। निराश न करें, यही विनती है। मैं आपको हमेशा बड़े आदर से देखती रही हूँ। मैं भीख माँगती हूँ कि आप मुझे छोटी बहन की तरह स्वीकार करें और मैं आपको भाई कह सकूँ, यह सौभाग्य मुझे मिले। तो बनेंगे आप हमारे आदरणीय भइया? आप स्वीकार करें या न करें, पर मैं हतभागिनी आपको भाई स्वीकार कर चुकी! भाई-बहन से बढकर कोई रिश्ता इस ब्रह्माण्ड में नही है। अपने देश में मुसलमान भाइयों तक ने अपनी हिन्दू बहनों के लिए प्राण त्यागे है। फिर आप तो हिन्दू ही हैं। हमारी जाति अलग सही, पर मन के रिश्ते नही टूटते। तो आप आज से मुझे अपनी बहन मानेंगे न? अगर न माना तो मैं रो-रोकर प्राण दे दूँगी। मैं भी कैसी पगली हूँ, अगर आपने मुझे बहन न माना होता तो भला मेरे साथ इतनी बड़ी भलाई करते आप! सचमुच आपने मुझे पथ दिखलाया है। मुझ अन्धी को गन्दी खाई में गिरने से बचा लिया। मैं मन-ही-मन आपके इस अहसान के भार से दबी जा रही हूँ। अगर आप भाई साहब से सब बातें न कहते तो मैं कहाँ पहुँचती, यह नही जानती। आपने मुझे नयी राह दिखायी है, मुझ पगली को पाप से उबारा है, यह उपकार मैं जनम-जनम तक नही भूल सकती। मैं आपको वचन देती हूँ कि मैं वीरेन्द्र की परछाईं तक से घृणा करूँगी। और भैयादूज पर आपको राखी बाँधूँगी। ख़ूब नाचूँगी, गाऊँगी। मुझे एक भाई मिला है। भाई से बढ़कर किसी चीज़ का परमपिता जगदीश्वर ने निर्माण ही नही किया। मुझे मिठाई खिलायेंगे उस रोज़? न खिलायी तो रूठ जाऊँगी। मनाने से भी नही मानूँगी। लेकिन क्या दुनियावाले हमारे पवित्र सम्बन्ध को फूटी आँखों भी देख पायेंगे? शायद नही। हो सकता है मुझ हतभागिनी के कारण आपको बदनामी उठानी पडे। पर मैं आपको सकट में नही देख सकती। आप मुझसे बात न करें, यही ठीक होगा, पर

प्यारी छवि रोज़ अवश्य दिखा दिया करें। मेरे बात न करने को और किसी मतलब मे न लें। मैं सदा-सदा के लिए आपकी बहन हूँ। आपने मेरी यह विनती स्वीकार की है, यह बताने के लिए आप कल शाम अपने माथे पर महावीरजी के वन्दन का टीका लगाकर आयें। कल मंगलवार भी तो है। मैं माथे पर टीका लगा देखूंगी और एक दिन अपने इन पापी हाथों से तिलक लगाकर इन्हें पवित्र कर लूंगी, जिन्होंने उस वीरेन्द्र को पत्र लिख-कर मुझे पाप का भागी बनाया है।

यह पत्र आप किसी को न दिखायें। आपको इस अभागी बहन की सौगन्ध है। मैं मर गयी तो क्या आपको दु:ख न होगा ?

सदा-सदा के लिए प्यारी बहन

कमला"

यह पत्र लिखकर वह थोड़ी देर चुपचाप लेटी रही। फिर कापी से एक और पन्ना फाड़ा। पर लगा कि एक कम होगा, इसलिए तीन-चार पन्ने नोच लिये और लिखने लगी :

"मेरी हुस्न दुनिया के चमन राजा ! तस्लीम !

आपको आश्चर्य तो होगा प्राणनाथ, कि आपकी कमला ने यह उर्दू कहाँ से सीख ली। मेरी सहेली है सईदा, मैंने उससे आपकी बातें की थी, उसी ने बताया था यह। आप नाराज़ तो नहीं होंगे कि मैंने आपकी बातें, किसी और से क्यों की ! पर मैं विरह की मारी करूँ भी क्या ? आपकी बातों के सहारे ही इस जीवन के दिन काट रही हूँ। आप भी तो जानते हैं सईदा को। हम लोगों ने उसका चिढ़ाने का नाम इमली रखा है।

आज मैं बहुत दु:खी हूँ मेरे राजा, घरवालों को हमारे प्रेम का पता चला गया है। यह चुगली आपके दोस्त रतन ने की है। आप उसे अपना मित्र समझते है। सच्चा मित्र अपने मित्र के लिए जान तक दे देता है। पर वह हमसे जलता है और चाहता है कि मैं इस हृदय में बसी हुई आपकी तस्वीर मिटा दूँ। यह तो चिता पर ही होगा प्राणनाथ, जब रोआँ-रोआँ जल जायेगा तब दिल की बारी आयेगी। कैसे जीऊँगी तुम्हारे बिना ! सोचती हूँ तो घण्टों रोती हूँ, पर तुम्हारी कठोरता को क्या कहूँ। तुम

इतने निर्दयी हो यह नही जानती थी। आज शाम गली से क्यों नहीं गुजरे ? मैं घण्टों सीखचे पर काम का बहाना किये खडी रही पर आप नही निकले। जिस दिन तुम्हे नही देख पाती, वह दिन और रात कैसे बीतती है, यह मैं ही जानती हूँ, पर तुम्हें क्या ? मैं मर भी जाऊँ तब भी तुम्हें दुःख नही होगा।

समाज मुझे सताता है पर तुम न सताओ। मैं तुम्हें अब उस रतन के साथ कभी नही देखना चाहती, वह हमारी दुनिया मे आग लगाना चाहता है। तुम्हे मेरी सौगन्ध है, अगर तुमने मुझे रत्ती-भर भी प्यार किया है तो सौगन्ध देती हूँ, उसके साथ रहो तो मेरा मरा मुँह देखो। वह बडा नीच है। मुझसे कहने लगा कि अगर तुमने आज से पत्र लिखना बन्द न किया तो वह तुमसे सारे पत्र लाकर पिताजी के सामने रख देगा। मैंने डाँटकर कहा, 'तुम्हे मेरे पत्र मिल ही नही सकते' तो कहने लगा, 'मैं तुम्हारा राइटिंग वना लूँगा।' हमने उसका क्या बिगाड़ा है जो वह पीछे पडा है ? प्राणनाथ, कभी वह मेरा राइटिंग बनाकर तुम्हें ही न भडका दे। हाय तब मैं क्या करूँगी, पर मुझे अपने पर विश्वास है। उसकी बातों पर कभी यकीन न करना, उससे बोलना ही मत। मैंने भी उसका घर आना-जाना बन्द करवाने की तरकीब सोच ली है। तुम मुँह न मोड़ना मेरे हृदय के राजा, कल शाम मुझे माताजी के साथ एक रिश्तेदारी मे जाना है, इसलिए परसों सुबह जरूर-जरूर दर्शन देना। मैं गलीवाले कमरे मे ही रहूँगी, समाज समझे चाहे जो कुछ। वह हमें बरबाद करना चाहता है, हमारे प्रेम के दीपक को बुझाना चाहता है। पर वह जलेगा···। 'तक़दीर बनी बन कर बिगड़ी, दुनिया ने हमें बरबाद किया !' यह गाना मुझे बहुत अच्छा लगता है। हारमोनियम पर भी निकाल लेती हूँ। अच्छा बिदा मेरे देव ! मधुर मिलन। पत्र देना।

तुम्हारी दासी
कमला"

पत्र लिखकर कमला ने अपने ब्लाउज मे रख लिये। मन शान्त हो गया था। सुबह उठते ही उसने बडे भाईवाला पत्र उनकी ...

चुपचाप रख दिया और चली आयी। भाई साहब रोज की तरह कमीज
पहन, पैरों मे चप्पलें डालकर बेकारी में घूमने चले गये। कमला स्कूल के
लिए तैयारी करती रही। हमेशा की तरह सुबह ही रतन आया तो कमला
ने जीने मे पहुँचकर वही सीढ़ियों मे वह पत्र उसके हाथ में थमा दिया और
नीचे उतर गयी।

और कमरे मे पहुँचते ही वह ठिठक गयी। पिताजी स्कूल जाने के लिए
तैयार थे। माताजी उनके लिए दिन का पहला पान लगा रही थी। मुन्ना
टाँगों में लिपटा माँ की बाँह खींच रहा था। कमला पैर धोने का बहाना
करके वही रुक गयी। ऊपर रतन था। खानदानवाली अलमारी के ऊपर लगे
हुए बहुत पुराने शादीवाले फ़ोटो को देर तक अपना चश्मा उतारकर देखते
हुए मास्टरजी ने बड़े प्यार से पत्नी के कन्धे पर हाथ रखा और कहा, "यह
तसवीर देखो ज़रा।"

कमलाजी की माँ ने वैसे ही पान लगाते हुए कहा, "क्या देखूँ उसमें!"

"इस तसवीर मे तुम ऐसे मुँह फेरे बैठी हो जैसे मेरे साथ शादी करने
का मन नही था तुम्हारा···" मास्टर साहब ने आँखें मिचमिचाकर इशारे
से कहा।

"तुम्ही इधर-उधर नज़र डालते होगे, हमने तो शादी से पहले किसी
लड़के से बात तक नही की थी।" गिलौरी बनाते हुए कमला की माँ ने धीरे
से मुसकराते हुए जवाब दिया।

दाँतों पर चढ आयी राल को चूसकर मास्टर साहब ने टोपी के
भीतर वाले अख़बार के अस्तर को ठीक से रखते हुए शेख़ी से कहा, "कौन
जाने!"

तभी कमला की माँ ने गिलौरी उनके मुँह मे रख दी और मुन्ना के बाँह
खींचने से खीझते हुए उन्होने पकड़कर उसे झटकते हुए कहा, "एक मिनिट
के लिए अकेला नही छोड़ते, जब देखो तब···"

और मास्टर साहब ने जैसे बात की ताईद करते हुए प्यार से कमला
की माँ की आँखो मे झाँका, कुछ प्यार उमड़ा—पर स्कूल का वक़्त हो गया
था।

बच्चा पैर पटकता भुनभुनाता हुआ कमरे से बाहर निकल गया।

लपककर कमला ने फुसलाने के अन्दाज़ में पूछा, "क्या बात है मुन्ना भइया ?"

"पैसा लेंगे," उसने कहा तब तक कमला ने ब्लाउज़ से तीन-चार लेमनजूस और पत्र निकालकर उसके हाथों में पकड़ाते हुए धीरे से कहा, "ये परचा जल्दी से वही दे आ और किसी को मत देना, फिर और लेमन-जूस देंगे।" और वह दौड़कर ऊपर चली गयी थी।

मास्टर साहब अपनी छड़ी लेकर नीचे उतरते थे, सीखचे में खड़ी कमला की माँ को मुड़कर देखते थे और ऐनक चढ़ाते हुए स्कूल जाने वाली गली में मुड जाते थे। ऊपर बारजे पर खड़ी कमला बालों में गोले का तेल लगाते हुए दूसरी गली में भागकर जाते हुए मुन्ना को देखती रहती थी। इसी तरह दिन बीतते जाते थे और प्रेम चलता जाता था—पीढ़ी-दर-पीढ़ी।

खोयी हुई दिशाएँ

सड़क के मोड़ पर लगी रेलिंग के सहारे चन्दर खड़ा था। सामने, दायें-बायें आदमियों का सैलाब था। शाम हो रही थी और कॅनॉट प्लेस की बत्तियाँ जगमगाने लगी थीं। थकन से उसके पैर जवाब दे रहे थे। कहीं दूर आया-गया भी तो नहीं, फिर भी थकान सारे शरीर में भरी हुई थी। दिल और दिमाग इतना थका हुआ था कि लगता था, वही थकान धीरे-धीरे उतरकर तन मे फैलती जा रही है।

पूरा दिन बरबाद हो गया। यही खड़ा सोच रहा था। घर लौटने को भी मन नहीं कर रहा था। आती-जाती एक-सी औरतो को देखकर मन और भी ऊबने लगता था।

भूख···पता नहीं लगी है या नहीं। वह दिमाग पर ज़ोर डालता है—सवेरे आठ बजे घर से निकला था। एक प्याली कॉफी के अलावा तो कुछ पेट मे गया नहीं।···और तब उसे अहसास हुआ कि थोड़ी-थोड़ी भूख लग रही है। दिमाग और पेट का साथ ऐसा ही गया है कि भूख भी सोचने से लगती है।

निगाहें दूर आसमान पर अटक जाती है, जहाँ चीलें उड़ रही है और मोज़े की शकल मे कटा हुआ आसमान दिखाई दे रहा है। उस गँदले आसमान के नीचे जामा मस्जिद का गुम्बद और मीनार दिखाई पड रही है, उनकी नोकें बड़ी अजीब-सी लग रही हैं।

पीछे वाली दूकान के बाहर चोलियों का विज्ञापन है। रीगल बस स्टॉप के नीम के पेड़ो से धीरे-धीरे पत्तियाँ झड़ रही हैं। बसें जूं-जूं करती आती हैं—एक क्षण ठिठकती हैं—एक ओर से सवारियों को उगलती है और दूसरी ओर से निगलकर आगे बढ जाती है। चौराहे पर बत्तियाँ लगी हैं। बत्तियों की आँखें लाल-पीली हो रही हैं। आस-पास से सैकड़ो लोग गुजरते हैं, पर कोई उसे नही पहचानता। हर आदमी या औरत लापरवाही से दूसरों को नकारता या झूठे दर्प मे डूबा हुआ गुज़र जाता है।

और तब उसे अपना वह शहर याद आता है जहाँ से तीन साल पहले वह चला आया था—गगा के सुनसान किनारे पर भी अगर कोई अनजान मिल जाता तो उसकी नजरो मे पहचान की एक झलक तैर जाती थी।

और यह राजधानी! जहाँ सब अपना है, अपने देश का है···पर कुछ भी अपना नही है, अपने देश का नही है।

तमाम सडकें है जिन पर वह जा सकता है, लेकिन वे सडकें कही नही पहुँचाती। उन सड़को के किनारे घर हैं, बस्तियाँ है—पर किसी भी घर में वह नही जा सकता। उन घरों के बाहर फ़ाटक हैं, जिन पर कुत्तों से सावधान रहने की चेतावनी है, फूल तोड़ने की मनाही है और घण्टी बजाकर इन्तज़ार करने की मजबूरी है।

···घर पर निर्मला इन्तज़ार कर रही होगी। वहाँ पहुँचकर भी पहले मेहमान की तरह कुरसी पर बैठना होगा, क्योंकि बिस्तर पर कमरे का पूरा सामान सजा होगा और वह हीटर पर खाना पका रही होगी। उन्मुक्त होकर वह हवा के झोंके की तरह कमरे मे घुस भी नही सकता और न उसे बाँहो मे लेकर प्यार ही कर सकता है, क्योकि गुप्ताजी अभी मिल से लौटे नही होंगे और मिसेज़ गुप्ता बेकारी मे बैठी गप लडा रही होंगी या किसी स्वेटर की बुनाई सीख रही होगी। अगर वह चला भी गया तो कमरे में बहुत अदब से घुसेगा, फिर मिसेज़ गुप्ता से इधर-उधर की दो-चार बातें करेगा। तब बीवी खाना खाने की बात कहेगी। और खाने की बात सुनकर मिसेज़ गुप्ता घर जाने के लिए उठेंगी···

और फिर उसके बाद बडी खिडकी का परदा खिसकाना :

खोयी हुई

बहाने खुराना की तरफ़ वाली खिड़की को बन्द करना पड़ेगा। घूमकर मेज के पास पहुँचना होगा और तब पानी का एक गिलास माँगने के बहाने वह पत्नी को बुलायेगा, और तब उसे बाँहो में लेकर प्यार से यह कह सकने का मौका आयेगा—बहुत थक गया हूँ।

लेकिन ऐसा होगा नही। इतनी लम्बी प्रक्रिया से गुज़रने के पहले ही उसका मन झुंझला उठेगा और यह कहने पर मजबूर हो जायेगा, "अरे भई, खाने मे कितनी देर है," सारा प्यार और समूची पहचान न जाने कहाँ छिप चुकी होगी, अजीब-सा बेगानापन होगा। बेकरी वालो के यहाँ भर्रायी आवाज़ मे रेडियो गा रहा होगा और गुलाटी के थके क़दमो की खोखली आवाज़ जीने पर सुनाई पड़ेगी।

गली मे कोई स्कूटर आकर रुकेगा और उसमे से कोई बिन-पहचाना आदमी किसी और के घर मे चला जायेगा। मोटरों की मरम्मत करने वाले गैरेज का मालिक सरदार चाबियाँ लेकर घर जाने के इन्तज़ार मे आधी रात तक बैठा रहेगा क्योकि उसे पन्द्रह साल पुराने मेकैनिक पर भी शायद विश्वास नही है।

और सामने रहने वाले बिशन कपूर के आने की आहट-भर मिलेगी। पिछले दो साल से उसने सिर्फ़ उसके नाम की प्लेट देखी है—बिशन कपूर, जर्नलिस्ट···और उसकी शकल के बारे मे वह सिर्फ़ यह जानता है कि सामने वाली खिड़की से जब बिजली की रोशनी छनने लगती है और सिगरेट का धुआँ सलाखो से लिपट-लिपटकर बाहर के अँधेरे मे डूब जाता है तो बिशन कपूर नाम का एक आदमी भीतर होता है और सुबह जब उसकी खिड़की के नीचे अण्डे का छिलका, डबलरोटी का रैपर और जली हुई सिगरेटें, तीलियाँ और राख बिखरी हुई होती हैं तो बिशन कपूर नाम का आदमी जा चुका होता है।

सोचते-सोचते उसे लगा कि मोज़े की बदबू और भी तेज होती जा रही है और अब रेलिंग के पास खड़ा रहना मुश्किल है। जेब से डायरी निकाल-कर उसने अगले दिन की मुलाक़ातो के बारे मे जान लेना चाहा।

···अँगरेज़ी दैनिक में पहले फ़ोन करना ... समय तय करके मिलना है। रेडियो मे एक ... है। ... रिज़र्व बैंक से

/ खोयी हुई [illegible]

कैश कराना है और घर एक मनीऑर्डर भेजना है। कल का पूरा वक्त भी इसी में निकल जायेगा, क्योंकि अखबार का सम्पादक परिचित नही है जो फ़ौरन बुला ले और खुलकर बात कर ले और कोई बात तय हो जाये। रेडियो में भी कोई बात दस मिनिट मे तय नही हो सकती और रिजर्व बैंक के काउण्टर पर इलाहाबाद वाला अमरनाथ नही है जो फ़ौरन चेक लेकर रुपया ला दे। डाकखाने पर व्यारियो के चपरासियों की भीड़ होगी जो दस-दस मनीऑर्डर के फ़ार्म लिये लाइन मे खडे होंगे और एक कागज़ पर पूरी रकम और मनीऑर्डर कमीशन का मीजान लगाने मे मशगूल होंगे। उनमें से कोई भी उसे नही पहचानता होगा।

एक क्षण की जान-पहचान का सिलसिला सिर्फ पेन होगा, जो कोई-न-कोई दो हरूफ लिखने के लिए माँगेगा और लिख चुकने के बाद अपना ख़त पढते हुए वह बायें हाथ से उसे क़लम लौटाकर शायद धीरे से थैंक्यू कहेगा और टिकिट वाले काउण्टर की ओर बढ़ जायेगा।

और तब उसे झुंझलाहट-सी हुई। डायरी हाथ मे थी और उसकी निगाहें फिर दूर की ऊँची इमारत पर अटक गयी थी, जिस पर बिजली के मुकुट जगमगा रहे थे। और उन नामों में से वह किसी को नही जानता था। इलाहाबाद में सबसे बड़े कपडे वाले के बारे मे इतना तो मालूम था कि पहले वह बहुत गरीब था और कन्धे पर कपडा रखकर फेरी लगाता था और अब उसका लड़का विदेश पढ़ने गया हुआ है और वह ख़ुद बहुत धार्मिक आदमी है जो अब माथे पर छापा-तिलक लगाकर मनमाना मुनाफ़ा वसूल करता है और कॉर्पोरेशन का चुनाव लडने की तैयारियाँ कर रहा है। यहाँ कुछ पता नही चलता, किसी के बारे मे कुछ भी मालूम नही पड़ता।

कॅनॉट प्लेस में खुले हुए लॉन हैं। तनहा पेड़ है और उन दूर-दूर खड़े तनहा पेडो के नीचे नगर निगम की बेंचें हैं, जिन पर थके हुए लोग बैठे है और लॉन मे एकाध बच्चे दौड़ रहे है। बच्चों की शक्लें और शरारतें तो बहुत पहचानी-सी लगती है, पर गोलगप्पे खाती हुई उनकी मम्मी अजनबी है, क्योंकि उसकी आँखों में मासूमियत और गरिमा से भरा प्यार नही है। उसके शरीर मे मातृत्व का सौन्दर्य और दर्प भी नहीं है, उसमे सिर्फ एक ख़ुमार है और एक बहुत बेमानी और पिटी हुई ललकार है, जिसे न तो

...जा सकता है और न स्वीकार किया जा सकता है—वह ललकार सब कानों मे गूँजती है और सब बहरों की तरह गुजर जाते है।

लॉन पर कुछ क्षण बैठने को मन हुआ पर उसे लगा कि वहाँ भी कोई ठिकाना नही · अभी कल ही तो चोर की तरह दबे पाँव घास मे बहता हुआ पानी आया था और उसके कपड़े भीग गये थे।

ननहा खड़े पेडो और उनके नीचे सिमटते अँधेरे मे अजीब-सा खाली-पन है। तनहाई ही सही पर उसमे अपनापन तो हो। वह तनहाई भी किसी की नही है क्योकि हर दस मिनिट बाद पुलिस का आदमी उधर से घूमता हुआ निकल जाता है। झाड़ियों की सूखी टहनियों मे आइसक्रीम के खाली कागज और चने की खाली पुड़ियाँ उलझी हुई है या कोई वेयर-बार आदमी शराब की खाली बोतल फेंककर चला गया है।

डायरी पर फिर उसकी नजर जम जाती है,...और शोर-शराबे से भरे उस सैलाब मे वह बहुत अकेला-सा महसूस करता है और लगता है कि इन तीन सालो मे ऐसा कुछ भी नही हुआ जो उसका अपना हो, जिसकी कचोट अभी तक हो, ख़ुशी या दर्द अब भी मौजूद हो, रेगिस्तान की तरह फैली हुई तनहाई है, अनजान सागर-तटो की खामोशी और सूना-पन है और पछाड खाती हुई लहरो का शोर-भर है जिससे वह ख़ामोशी और भी गहरी होती है।

मोजे की शक्ल मे कटा हुआ आसमान है और जामा मस्जिद के गुम्बद के ऊपर चक्कर काटती हुई चीलें है। औरतों का पीछा करते हुए फूल बेचने वाले और यतीम बच्चो के हाथ मे शाम की खबरो के अख़बार है।

...और तभी चन्दर को लगा कि एक अरसा हो गया, एक जमाना गुजर गया, वह ख़ुद अपने से नही मिल पाया। अपने से बातें करने का वक़्त ही नही मिला। यह भी नही पूछा कि आखिर तेरा हाल-चाल क्या है और तुझे क्या चाहिए। हलकी-सी मुसकराहट उसके होंठो पर आयी और उसने हर शुक्रवार के आगे नोट किया—ख़ुद से मिलना है। शाम सात बजे से नौ बजे तक।...और आज भी तो शुक्रवार ही है। यह मुला-कात आज होनी चाहिए। घड़ी पर नजर जाती है, सात बजे है। पर मन का चोर हावी हो जाता है। क्यो न पहले टी-हाउस मे एक प्याला चाय

नकारा जा सकता है और न स्वीकार किया जा सकता है—वह ललकार सब कानो मे गूँजती है और सब लहरों की तरह गुजर जाते है ।

लॉन पर कुछ क्षण बैठने को मन हुआ पर उसे लगा कि वहाँ भी कोई ठिकाना नही · अभी कल ही तो चोर की तरह दबे पाँव घास मे बहता हुआ पानी आया था और उसके कपडे भीग गये थे ।

तनहा खडे पेडो और उनके नीचे सिमटते अँधेरे मे अजीब-सा ख़ाली-पन है । तनहाई ही सही पर उसमे अपनापन तो हो । वह तनहाई भी किसी की नही है क्योकि हर दस मिनिट बाद पुलिस का आदमी उधर से घूमता हुआ निकल जाता है । झाडियो की सूखी टहनियो मे आइसक्रीम के खाली कागज और चने की ख़ाली पुडियाँ उलझी हुई हैं या कोई बेघर-बार आदमी शराब की खाली बोतल फेंककर चला गया है ।

डायरी पर फिर उसकी नजर जम जाती है,…और शोर-शराबे से भरे उस सैलाब मे वह बहुत अकेला-सा महसूस करता है और लगता है कि इन तीन सालो मे ऐसा कुछ भी नही हुआ जो उसका अपना हो, जिसकी कचोट अभी तक हो, ख़ुशी या दर्द अब भी मौजूद हो, रेगिस्तान की तरह फैली हुई तनहाई है, अनजान सागर-तटो की खामोशी और सूना-पन है और पछाड खाती हुई लहरो का शोर-भर है जिससे वह खामोशी और भी गहरी होती है ।

मोज़े की शक्ल मे कटा हुआ आसमान है और जामा मस्जिद के गुम्बद के ऊपर चक्कर काटती हुई चीलें है । औरतो का पीछा करते हुए फूल बेचने वाले और यतीम बच्चो के हाथ मे शाम की खबरो के अखबार है ।

…और तभी चन्दर को लगा कि एक अरसा हो गया, एक जमाना गुजर गया, वह ख़ुद अपने से नही मिल पाया । अपने से बातें करने का वक़्त ही नही मिला । यह भी नही पूछा कि आखिर तेरा हाल-चाल क्या है और तुझे क्या चाहिए । हलकी-सी मुसकराहट उसके होठो पर आयी और उसने हर शुक्रवार के आगे नोट किया—ख़ुद से मिलना है । शाम सात बजे से नौ बजे तक ।…और आज भी तो शुक्रवार ही है । यह मुला-कात आज होनी चाहिए । घडी पर नजर जाती है, सात बजे हैं । पर मन का चोर हावी हो जाता है । क्यों न पहले टी-हाउस मे एक प्याला चाय

पी ली जाये ? न जाने क्यों मन अपने से मिलने में घबराता है। रह-रहकर कतराता है।

तभी उस पार से आता हुआ आनन्द दिखाई देता है। वह उससे भी नही मिलना चाहता। बड़ा बुरा मर्ज है आनन्द को। वह उस छूत से बचा रहना चाहता है। आनन्द दुनिया मे दोस्त खोजता है, ऐसे दोस्त जो जिन्दगी मे गहरे न उतरें पर उसके साथ कुछ देर रह सकें और बात कर सकें। उसकी बातों मे अजीब-सा बनावटीपन है, वह बनावटीपन जो आदमी किताबों से सीखता है। और उसे लगता है कि वही बनावटीपन खुद उसमे भी कही-न-कही है'''जब कॉलेज और युनिवर्सिटी के दर्जों में बैठ-बैठकर वह किताबो से जिन्दगियो के मरे हुए ब्योरे पढ़ रहा था।

और अब आज उसे लगता है कि वह सारा वक़्त बड़ी बेरहमी बरबाद किया गया है। उसने उन खँडहरो मे समय बरबाद किया है *जिनकी कथाएँ अधपढ़े गाइडो की जबान पर रहती है,* जो हर बार उन मरी हुई कहानियों को हर दर्शक के सामने दोहराते जाते है : यह दीवाने-खास है, जरा नक़्काशी देखिए—यहाँ हीरे जवाहरातो से जड़ा सिंहासन था, यह जनाना हमाम है और यह वह जगह है जहाँ से बादशाह अपनी रिआया को दर्शन देते थे, यह महल सदियो का है, यह बरसात का और यह हवादार महल गरमियो का और इधर आइए सँभल के, यह वह जगह है जहाँ फाँसी दी जाती थी।

चन्दर को लगा, जिन्दगी के पचीस साल वह उन गाइडो के साथ खँडहरों में बिताकर आया है जिनकी जीवन्त कथाओं को वह कभी नही जान पाया, सिर्फ दीवाने-ख़ास उसे दिखाया गया, *नक़्काशी दिखाई गयी* और जनाने हमाम मे घुमाकर गाइड ने उसे फाँसी वाले अँधेरे और बदबूदार कमरे मे छोड़ दिया, जहाँ चमगादड़ लटके हुए बिलबिला रहे हैं और एक बहुत पुरानी ऐतिहासिक रस्सी लटक रही है जिसका फन्दा गरदन मे कस जाता है और आदमी झूल जाता है। और उसके बाद अन्धे कुएँ में फेंकी गयी सिर्फ वे लाशें रह जाती है

उसमे और उनमें कोई अन्तर नही है।

और आनन्द भी उनसे अलग नहीं है। चन्दर कतरा जाना चाहता था, क्योंकि आनन्द आते ही किताबी तरीक़े से कहेगा, "यार, तुम्हारे बाल बहुत ख़ूबसूरत है, ब्रिलक्रीम लगाते हो ? लड़कियाँ तो तबाह हो जाती होंगी।"

और तभी चन्दर को सामने पाकर आनन्द रुक जाता है, "हलो, यहाँ कैसे ? क्यों लड़कियों पर जुल्म ढा रहे हो।" सुनकर उसे हँसी आ जाती है।

"किधर से आ रहे हो ?" डायरी जेब मे रखते हुए पूछता है।

"आज तो यूँ ही फँस गये, आओ एक प्याला कॉफ़ी हो जाये।" आनन्द कहता है, फिर एक क्षण रुककर वह दूसरी बात सुझाता है, "या और कुछ..."

चन्दर इसका मतलब समझकर न कर देता है। वह ज़ोर देता है, "चलो फिर आज तो हो ही जाये, क्या रखा है इस ज़िन्दगी में !" कहते हुए वह झूठी हँसी हँसता है और धीरे से हाथ दबाकर पूछता है, "प्लीज़ इफ यू डोण्ट माइण्ड, कुछ पैसे हैं ?" उसके कहने मे कोई हिचक नहीं है और न उसे शरम ही आती है। बड़ी सीधी-सी बात है, पैसे कम हैं।

"अच्छा पार्टनर, मैं अभी इन्तज़ार करके आया," वह विश्वास को गहराता हुआ कहता है, "यहीं रुकना, चले मत जाना।" और वह जाता है तो फिर नहीं आता।

चन्दर यह पहले से जानता है।

कुछ देर बाद वह टी-हाउस मे घुस जाता है और मेज़ों के पास चक्कर काटता हुआ कोने वाले काउण्टर से सिगरेट का पैकेट लेकर एक मेज़ पर जम जाता है।

"हलो !" कोई एक अनजाना चेहरा कहता है, "बहुत दिनों बाद इधर आना हुआ।" और वह भी वहीं बैठ जाता है। दोनों के पास बात करने के लिए कुछ भी नहीं है।

टी-हाउस में बेपनाह शोर है। खोखली हँसी के ठहाके है और दीवार पर एक घड़ी है जो हमेशा वक़्त से आगे चलती है। तीन रास्ते बाहर से आने और जाने के लिए हैं और चौथा रास्ता बाथरूम जाता है। बाथरूम

के पॉर्टिंग में ज़िनादत्त की गोनियाँ पड़ी हैं और गैलरी में एक शीशा लगा हुआ है। हर वह आदमी जो बाथरूम जाता है, उस शीशे में अपना मुँह देखकर लौटता है।

मेनार्ट में डिनर डान्स की तैयारी हो रही है। कुरसियों की तीन क़तारें बाहर निकालकर रख दी गयी हैं। उधर वोल्गा पर विदेशियों की भीड़ बढ़ रही होगी।

और तभी एक जोड़ा भीतर आता है। महिला सजी-बजी है और जूड़े में फूल भी है। आदमी के चेहरे पर अजीब-सा गरूर है और वे दोनों फ़ैमिली वाली सीट पर आमने-सामने बैठ जाते हैं। बैठने से पहले उनमें कोई ताल्लुक़ नज़र नहीं आ रहा था। सिर्फ़ इतना-भर कि जब महिला बैठने के लिए मुड़ी थी तो साथ वाले आदमी ने उसकी कमर पर हाथ रखकर सहारा-भर दिया था। इतना-सा साथ था दोनों में।

उनके पास भी बात करने के लिए शायद कुछ नहीं है।

महिला अपना जूड़ा ठीक करते हुए औरों को देख रही है और साथ वाला आदमी पानी के गिलास को देख रहा है। किसी के देखने में कोई मतलब नहीं है। आँखें हैं, इसलिए देखना पड़ता है। अगर न होतीं तो सवाल ही नहीं था। एक जगह देखते-देखते आँखों में पानी आ जाता है—इसलिए ज़रूरी है कि इधर-उधर देखा जाये।

बेयरा उसकी मेज़ पर सामान रख जाता है और दोनों खाने में मशगूल हो जाते हैं। कोई बात नहीं करता। आदमी खाना खाके दाँत कुरेदने लगता है और वह महिला रूमाल निकालकर अन्दाज़ से लिपस्टिक ठीक करती है।

अन्त में बेयरा आकर पैसे लौटाता है तो आदमी कुछ टिप छोड़ता है जिसे महिला ग़ौर से देखती है और दोनों लापरवाही से उठ खड़े होते हैं। फिर उन दोनों में हलका-सा सम्बन्ध उसे नज़र आता है—वह आदमी ठिठककर साथ वाली महिला को आगे निकलने का इशारा करता है और उसके पीछे-पीछे चला जाता है।

चन्दर का मन और भारी हो जाता है। अकेलेपन का नागपाश और भी कस जाता है। अपने साथ बैठे हुए अनजान दोस्तों की तरफ़ बढ़ सकने

नज़रों से देखता है और सोचता है, अजनबी ही सही, पर इसने पहचाना तो, इतनी पहचान भी बड़ा सहारा देती है···चन्दर को अपनी ओर देखते हुए वह साथ वाला दोस्त कुछ कहने को होता है पर जैसे उसे कुछ याद नही आता, फिर अपने को सँभालकर उसने चन्दर से पूछा, "आप···आप तो शायद कॉमर्स मिनिस्ट्री मे हैं। मुझे याद पड़ता है कि···" कहते हुए वह रुक जाता है।

चन्दर का पूरा शरीर झनझना उठता है और एक घूंट मे बची हुई कॉफी पीकर वह बड़े संयत स्वर में जवाब देता है, "नही, मैं कॉमर्स मिनिस्ट्री मे कभी नही था···"

वह आदमी आगे अटकलें भिड़ाने की कोशिश नही करता, सीधे-सीधे उस अनजान सम्बन्ध को मजबूत बनाते हुए कहता है,"ऑल राइट पार्टनर, फिर कभी मुलाकात होगी।" और सिगरेट सुलगाता हुआ उठ जाता है।

चन्दर बाहर निकलकर बस-स्टॉप की ओर बढ़ता है। मद्रास होटल के पीछे बस-स्टॉप पर चार-पाँच लोग खड़े हैं और पुलिस वाला स्टॉप की छतरी के नीचे बैठा सिगरेट पी रहा है।

चन्दर वही आकर खड़ा हो जाता है। सब जानना चाहते है कि बस कब तक आयेगी पर कोई किसी से कुछ भी नही पूछता। पेड़ के अँधेरे मे वह चुपचाप खड़ा है। नीचे पीले पत्ते पड़े हैं जो उसके पैरों से दबकर चुरमुराने लगते है और पीले पत्तो की वह आवाज़ उसे वर्षों पीछे खीच ले जाती है। इस आवाज़ मे एक बहुत गहरा अपनापन है, उसे बड़ी राहत-सी मिलती है।

···ऐसे ही पीले पत्ते पड़े हुए थे। उस राह पर बहुत साल पहले इन्द्रा के साथ एक दिन वह चला जा रहा था, कुछ भी नही था उसके सामने—वह खँडहरो मे अपनी ज़िन्दगी ख़राब कर रहा था और तब इन्द्रा ने ही उससे कहा था, "चन्दर, तुम क्या नही कर सकते।" वही पहचानी हुई आवाज़ फिर उसके कानो से टकराती है, "तुम क्या नही कर सकते।" और यह कहते-कहते इन्द्रा की आँखो में अदम्य विश्वास झलक आया था। और इन्द्रा की उन प्यार-भरी आँखो में झाँकते हुए उसने कहा था,

"मेरे पास है ही क्या ? समझ में नहीं आता कि ज़िन्दगी कहाँ ले जायेगी इन्द्रा ! इसीलिए मैं यह नहीं चाहता कि तुम अपनी ज़िन्दगी मेरी ख़ातिर बिगाड़ लो । पता नहीं, मैं किस किनारे लगूं, भूखा मरूँ या पागल हो जाऊँ···"

इन्द्रा की आँखों मे प्यार के बादल और गहरे हो आये थे और उसने कहा था, "ऐसी बातें करते हो चन्दर, मैं तुम्हारे साथ हर हालत में सुखी रहूँगी !"

चन्दर ने उसे बहुत ग़ौर से देखा था। इन्द्रा की आँखों मे नमी आ गयी थी। उसकी कँटीली बरौनियों से विश्वास-भरी मासूमियत झलक रही थी। माथे पर आयी हुई लट छूने को उसका मन हो आया था पर वह झिझक-रह गया था । इन्द्रा के कानों मे पड़े हुए कुण्डल पानी मे तैरती मछलियो की तरह झलक जाते थे और तब उसने कहा था, "आओ, उधर पेड के नीचे बैठेंगे।"

वे दोनों साथ-साथ चल दिये थे। सिरस के पेड़ के नीचे एक सीमेण्ट की बेंच बनी थी । राह पर पीली पत्तियाँ बिखरी हुई थी । उनके कुचलने से ऐसी ही आवाज़ आयी थी जो अभी-अभी उसने सुनी थी···वही पहचान-भरी आवाज ।

दोनों बेंच पर बैठ गये थे और चन्दर धीरे से उसकी कलाई पर अँगुली से लकीरें खीचने लगा था । दोनो ख़ामोश बैठे थे, बहुत-सी बातें थी जो वे कह नही पा रहे थे। कुछ क्षणों बाद इन्द्रा ने आँखें चुराते हुए उसे देखा था और शरमा गयी थी, फिर उसी बात पर आ गयी थी जैसे उसी एक बात मे सारी बातें छिपी हों, "तुम ऐसा क्यो सोचते हो चन्दर, मुझ पर भरोसा नही ?"

तब चन्दर ने कहा था, "भरोसा तो बहुत है इन्द्रा, पर मैं ख़ाना-बदोशों की तरह ज़िन्दगी-भर भटकता रहूँगा···उन परेशानियो में तुम्हें खीचने की बात सोचता हूँ तो बरदाश्त नही कर पाता । तुम बहुत अच्छी और सुविधाओं से भरी ज़िन्दगी जी सकती हो। मैंने तो सिर पर कफ़न बाँधा है··· मेरा क्या ठिकाना !"

"तुम चाहे जो कुछ बनो चन्दर, अच्छे या बुरे, मेरे लिए एक-से

रहोगे। कितना इन्तज़ार करती हूँ तुम्हारा, पर तुम्हें कभी वक़्त ही नहीं मिलता।" फिर कुछ देर मौन रहकर उसने पूछा था, "इधर कुछ लिखा?"

"हाँ," धीरे से चन्दर ने कहा था।

"दिखाओ।" इन्द्रा ने माँगा था।

और तब चन्दर ने पसीजे हुए हाथों से डायरी बढ़ा दी थी। इन्द्रा ने तुरन्त उस डायरी को अपनी किताबों में रख लिया था और बोली थी, "अब यह कल मिलेगी, इस बहाने तो अब आओगे···"

"नहीं, नहीं···मैं डायरी अपने साथ ले जाऊँगा, मुझे वापस दो।" चन्दर ने कहा था तो इन्द्रा शैतानी से मुसकराती रही थी और उसकी आँखों में प्यार की गहराइयाँ और बढ़ गयी थीं।

हारकर चन्दर वापस चला आया था और दूसरे दिन अपनी डायरी लेने पहुँचा था तो इन्द्रा ने कहा था, "इसमें कुछ मैंने भी लिखा है, पढ़कर फाड़ देना ज़रूर से।"

"मैं नहीं फाड़ूँगा।"

"तो कुट्टी हो जायेगी," इन्द्रा ने बच्चों की तरह बड़ी मासूमियत से कहा था और उस वक़्त उसके मुँह से वह बेहद बचपने की बात भी बड़ी अच्छी लगी थी।

और एक दिन···

एक दिन इन्द्रा घर आयी थी। इधर-उधर से घूम-घामकर वह चन्दर के कमरे में पहुँच गयी थी और तब चन्दर ने पहली बार उसे बिलकुल अपने पास महसूस किया था और उसके माथे पर रंग से बिन्दी बना दी थी और कई क्षणों तक मुग्ध-सा देखता रह गया था। और अनजाने ही उसने होंठ इन्द्रा के माथे पर रख दिये थे। इन्द्रा की पलकें झँप गयी थीं और रोम-रोम से गन्ध फूट उठी थी। उसकी अँगुलियाँ चन्दर की बाँहों पर थरथराने लगी थीं और माथे पर आया पसीना उसके होंठों ने सोख लिया था। रेशमी रोएँ पसीने से चिपक गये थे और उन उन्माद के क्षणों में दोनों ने ही प्रतिज्ञा की थी···वह प्रतिज्ञा जिसमें शब्द नहीं थे, जो होंठों तक भी नहीं आयी थी।

तब से उसे ये शब्द हमेशा याद रहते है, 'तुम क्या नही कर सकते।'

और तभी एक दूसरे नम्बर की बस आती है और ठिठककर चली जाती है। चन्दर को अहसास होता है कि वह बस-स्टॉप पर खड़ा है, वह गहरी पहचान ''कही कोई तो है'''और वह बहुत दूर भी तो नहीं।

इन्द्रा भी तो यही है दिल्ली में'''

दो महीने पहले ही तो वह मिला था। तब भी इन्द्रा की आँखो में वह चार बरस पहले की पहचान थी और उसने पति से किसी बात पर कहा था, "अरे, चन्दर की आदतें मैं ख़ूब जानती हूँ।"

और इन्द्रा के पति ने बड़े खुले दिल से कहा था, "तो फिर भई, इनकी ख़ातिर-वातिर करो'''"

और इन्द्रा ने मुसकराते हुए चार बरस पहले की तरह चिढाने के अन्दाज़ मे बयान किया था, "चन्दर को दूध से चिढ़ है और कॉफ़ी इन्हें धुआँ पीने की तरह लगती है, चाय मे अगर दूसरा चम्मच चीनी डाल दी गयी तो इनका गला खराब हो जायेगा।" कहकर वह खिलखिलाकर हँस दी थी और इस बात से उसने पिछली बातों की याद ताजी कर दी थी''' सचमुच चन्दर दो चम्मच चीनी नही पी सकता।

बस आने का नाम नही ले रही थी।

खड़े-खड़े चन्दर को लगा कि इस अनजानी और बिन जान-पहचान से भरी नगरी मे एक इन्द्रा है जो उसे इतने सालो के बाद भी पहचानती है, अब तक जानती है। उसका मन अपने-आप इन्द्रा से मिलने के लिए छटपटाने लगा, ताकि यह अजनबीपन किसी तरह टूट सके'''

तभी एक फटफटवाला आवाज़ लगाता हुआ आ जाता है, गुरदारा रोड'''क्रोलबाग़ गुरदारा रोड! चन्दर एक क़दम आगे बढता है और वह सरदार उसे देखते ही जैसे एकदम पहचान जाता है, "आइए बाबूजी, क्रोलबाग गुरदारा रोड।" उसकी आँखो में पहचान की झलक देखकर चन्दर का मन हलका हो जाता है। आख़िर एक ने तो पहचाना। चन्दर सरदार को पहचानता है। बहुत बार वह इसी सरदार के फटफट में बैठकर कनॉट प्लेस आया है।

आँखो मे पहचान देखते ही चन्दर लपककर फटफट पर बैठ जाता है।

तीन सवारियाँ और आ जाती है और दस मिनिट बाद ही गुरुद्वारा रोड के चौराहे पर फटफट रुकता है। चन्दर एक चवन्नी निकालकर सरदार की हथेली पर रख देता है और पहचान-भरी नज़रों से उसे देखता हुआ चलने लगता है।

तभी पीछे से आवाज़ आती है, "ऐ बाबूजी, कितना पैसा दिया है?" चन्दर मुड़कर देखता है तो सरदार उसकी तरफ आता हुआ कहता है, "दो आना और दीजिए साहब!"

"हमेशा चार आने लगते हैं सरदारजी!" चन्दर पहचान जताता हुआ कहता है, पर सरदार की आँखो मे पहचान की परछाईं तक नही है। वह फिर कहता है, "सरदारजी, आपके फटफट पर ही बीसों बार चार आने देकर आया हूँ।"

"किसे होर ने लये होणगे चार आने···असी ते छै आने तो घट नही लेंदे बादशाहो!" सरदार इस बार पजाबी मे बोला था और उसकी हथेली फैली हुई थी।

बात दो आने की नही थी। चन्दर ने बाकी पैसे उसकी हथेली पर रख दिये और इन्द्रा के घर की तरफ़ मुड़ गया।

और इन्द्रा उसे मिली तो वैसे ही। वह अपने पति का इन्तज़ार कर रही थी। बड़ी अच्छी तरह उसने चन्दर को बैठाया और बोली, "इधर कैसे भूल पड़े आज?" फिर आँखों में वही पहचान की परछाईं तैर गयी थी। कुछ क्षणो बाद इन्द्रा ने कहा था, "अब तो नौ बज रहे हैं, ये आठ ही बजे फैक्ट्री बन्द करके लौट आते हैं, पता नहीं आज क्यो देर हो गयी, अच्छा चाय तो पियोगे?"

"चाय के लिए इनकार तो नही की जा सकती।" चन्दर ने बड़े उत्साह से कहा था और कुरसी पर आराम से टाँगें फैलाकर बैठ गया था। उसकी सारी थकान उतर गयी थी और मन का अकेलापन डूब गया था।

नौकरानी आकर चाय रख गयी। इन्द्रा ने प्याले सीधे करके चाय बनायी तो वह उसकी बाँहों, चेहरे और हाथों को देखता रहा। सब कुछ वही

था, वैसा ही था···चिर-परिचित, तभी इन्द्रा ने पूछा, "चीनी कितनी ?"

और एक झटके से सब कुछ बिखर गया, उसका गला सूखने-सा लगा और शरीर फिर थकान से भारी हो गया। माथे पर पसीना आ गया। फिर भी उसने पहचान का रिश्ता जोड़ने की एक नाकाम कोशिश की और बोला, "दो चम्मच।" और उसे लगा कि अभी इन्द्रा को सब कुछ याद आ जायेगा और वह कहेगी कि दो चम्मच चीनी से अब गला ख़राब नहीं होता ?

पर इन्द्रा ने प्याले में दो चम्मच चीनी डाल दी और उसकी ओर बढ़ा दिया। ज़हर के घूंटों की तरह वह चाय पीता रहा। इन्द्रा इधर-उधर की बातें करती रही पर उनमें उसे मेहमानवाज़ी की बू लग रही थी और चन्दर का मन कर रहा था कि इन्द्रा के पास से किसी भी तरह भाग जाये और किसी दीवार पर अपना सिर पटक दे।

जैसे-तैसे उसने चाय पी और पसीना पोछता हुआ बाहर निकल आया। इन्द्रा ने क्या-क्या बातें की, उसे बिलकुल याद नहीं।

सड़क पर निकलकर वह एक गहरी सांस लेता है और कुछ क्षणों के लिए खड़ा रह जाता है। उसका गला बुरी तरह सूख रहा है और मुंह का स्वाद बेहद बिगड़ा हुआ है।

चौराहे पर कुछ टैक्सी ड्राइवर नशे में गालियां बक रहे हैं और एक कुत्ता दूर सड़क पर भागा जा रहा है। मछलियां तलने की गन्ध यहां तक आ रही है और पान वाले की दूकान पर कुछ जवान लोग कोकाकोला की बोतलें मुंह में लगाये खड़े है। स्कूटरों में कुछ लोग भागे जा रहे है। और शहर से दूर जाने वाले लोग बस स्टॉप पर खड़े अब भी प्रतीक्षा कर रहे हैं।

कारें, टैक्सियां, बसें और स्कूटर आ-जा रहे हैं। चौराहे पर लगी बत्तियों की आंखें अब भी लाल-पीली हो रही है।

चन्दर थका-सा अपने घर की ओर लौट रहा है। अँगुलियों पर जूता काट रहा है और मोज़े की बदबू और भी तेज़ हो गयी है।

आख़िर वह थका-हारा घर पहुँचता है और मेहमान की तरह कुरसी पर बैठ जाता है। यह कोई नयी बात नहीं है। निर्मला उसे

मुसकराती है और धीरे से बाँहों पर हाथ रखकर पूछती है, "बहुत थक गये।"

"हाँ।" चन्दर कहता है और उसे बहुत प्यार से देखता है। उसका मन भीतर से उमड़ आता है। वह किराये का मकान भी उस क्षण उसे राहत देता है और लगता है कि वह उसी का है।

निर्मला खाना लगाते हुए कहती है, "हाथ-मुँह धो लो..."

"अभी खाने का मन नहीं है।" चन्दर कहता है तो वह बहुत प्यार से देखते हुए पूछती है, "क्यों, क्या बात है, सुबह भी तो खाके नहीं गये थे, दोपहर में कुछ खाया था?"

"हाँ।" वह कहता है और निर्मला को देखता रह जाता है।

निर्मला कुछ अचकचाती है और कुछ देर बाद थकी-सी उसके पास बैठ जाती है।

चन्दर कुछ देर खोयी-खोयी नजरों से कमरे की हर चीज देखता रहता है और बीच-बीच में बड़ी गहरी नजरों से निर्मला को ताकता है। निर्मला कोई किताब खोलकर पढ़ने लगती है और चन्दर उसे देखे जा रहा है।

पीछे से पड़ती हुई रोशनी में निर्मला के बाल रेशम की तरह चमक रहे हैं, उसकी बरौनियाँ मुलायम काँटों की तरह लग रही हैं और कनपटी के पास रेशमी बालों के सिरे अपने-आप घूम गये हैं। पलक के नीचे पड़ती हुई परछाइँ बहुत पहचानी-सी लग रही है। उसने कड़ा आधी कलाई तक सरका लिया है।

चन्दर की निगाहें उसके अंग-प्रत्यंग में पुरानी पहचान खोज रही हैं, उसके नाखून, अँगुलियाँ और कानों की गुदारी लवें...

उठकर वह परदे खींच देता है और आराम से लेट जाता है। उसे लगता है कि वह अकेला नहीं है। अजनबी और तनहा नहीं है। सामने वाला गुलदस्ता उसका अपना है, पड़े हुए कपड़े उसके अपने हैं, उनकी गन्ध वह पहचानता है।

इन सभी चीजों में एक गहरी पहचान है। घोर अँधेरी रात में भी वह उन्हें टटोलकर पहचान सकता है। किसी भी दरवाजे से बिना टकराये

निकल सकता है।

···तभी ज़ीने पर गुलाटी के थके क़दमों की खोखली आहट सुनाई पड़ती है और उसे घबराहट-सी होती है। वह धीरे से निर्मला को अपने पास बुला लेता है। उसे लिटाकर छाती पर हाथ रख लेता है।

कई क्षणों तक वह उसकी साँस से उठती-बैठती छाती को महसूस करता है···और चाहता है कि निर्मला के शरीर का अंग-अंग और मन की हर धड़कन उसे पहचान की साक्षी दे···गहरी आत्मीयता और निर्बंध एकता का अहसास दे···

अँधेरे ही में वह उसके नाख़ूनों को टटोलता है, उसकी पलकों को छूता है, उसकी गरदन में मुँह छिपाकर खो जाना चाहता है, धुले हुए बालों की चिर-परिचित गन्ध उसके रन्ध्र-रन्ध्र में रिसने लगती है और उसके हाथ पहचान के लिए पोर-पोर पर थरथराते हुए सरकते हैं। निर्मला की साँस भारी हो जाती है।

वह उसकी मांसल बाँहों को महसूस करता है और गोल गुदारे कन्धों पर हाथ से थपथपाता रहता है, निर्मला के शरीर का अंग-अंग अनूठे अनुराग से खींचता-सा आता है। उसका रोम-रोम उसे पहचान रहा था, जोड़-जोड़ कसाव से पूरित था, तन के भीतर गरम रक्त के ज्वार उठ रहे थे और हर साँस पास खींचती जा रही थी। अंग-प्रत्यंग में, पोर-पोर में गहरी पहचान थी ··

तभी बिशन कपूर की खिड़की में उजाला होता है और धुआँ गलियों से लिपट-लिपटकर गली के अँधेरे में डूबने लगता है।

और उसका तनहा मन तनहाइयों को छोड़कर उन [illegible], परिचित साँसों और पहचाने स्पर्शों में डूबता जाता है। [illegible] नहीं चाहिए···परिचय की एक माँग है और उस अँधेरे [illegible], गन्ध से, तन के टुकड़े-टुकड़े से पहचान चाहता है, [illegible] है।

चारों तरफ़ सन्नाटा छा जाता है।

और उस ख़ामोशी में वह आश्वस्त होता है···मन [illegible] भर लेता है। ज्वार और उठता है। तन की [illegible]

[illegible]

रन्ध्र-रन्ध्र में एकता का सागर लहराने लगता है।

धीरे-धीरे निर्मला की तेज साँसें धीमीपड़ती हैं और चुम्बकीय कशिश ढीली पड़ जाती है। खिंचाव टूटने लगता है और अंगों के ज्वार उतरने लगते हैं···

चन्दर कसकर उसकी बाँहों को जकड़े रहता है···उतरता हुआ ज्वार उसे फिर अकेला छोड़े जा रहा है···अनजान तटों पर छोड़ी हुई सीपी की तरह।

निर्मला अपनी दबी हुई बाँह निकाल लेती है और गहरी साँस लेकर ढीली-सी लेट जाती है।

धीरे-धीरे सब कुछ सो जाता है और रात बहुत नीचे उतर आती है। कहीं कोई आवाज नहीं, कोई आहट नहीं।

धीरे से निर्मला करवट बदलती है और दूसरी ओर मुंह करके गहरी नींद में डूब जाती है।

करवट बदलकर लेटी हुई निर्मला को वह अलसाया-सा देखता रहता है···और चन्दर फिर अपने को बेहद अकेला महसूस करता है···वह निर्मला के कन्धे पर हाथ रखता है, चाहता है कि उसकी करवट बदल दे, पर उसकी अँगुलियाँ बेजान होकर रह जाती हैं। कुछ क्षण वह अँधेरे में ही निर्मला को उधर मुंह किये लेटा हुआ देखता है और हताश-सा खुद भी लेट जाता है। पता नहीं कब उसकी पलकें झपक जाती हैं···

और फिर बहुत देर बाद थाने का घड़ियाल दो के घण्टे बजाता है और उसकी नींद उचट जाती है। नींद के खुमार में ही वह चौंक-सा पड़ता है। कमरे की खामोशी और सूनेपन से उसे डर-सा लगता है। अँधेरे में ही वह निर्मला को टटोलता है, तकिये पर बिखरे उसके बालों पर उसका हाथ पड़ता है और वह उन बालों की चिकनाई को महसूस करता है··· सिर झुकाकर वह उन्हें सूंघता है···

फिर निर्मला पर हाथ रखता है—उसके गोल कन्धों को छूता है··· वह स्पर्श भी पहचाना हुआ है···धीरे-धीरे वह उसके पूरे शरीर को पहचानने के लिए टटोलता है और उसकी साँसों की हलकी आवाज को सुनने और पहचानने की कोशिश करता है।

निर्मला अब भी करवट लिये पड़ी थी। वह धीरे से नींद में कुन-मुनाती है। चन्दर का दिल धक्-से रह जाता है। कहीं निर्मला जाग न जाये, अनजाने ही इस स्पर्श से अजनबियों की तरह चौंक न जाये।

निर्मला सोते-सोते एक बार रुक-रुककर साँस लेती है, जैसे उसे डर-सा लग रहा हो···या कोई भयंकर सपना देख रही हो···चन्दर सुन्न-सा रह जाता है···क्या वह उसके स्पर्श को नहीं पहचानती ?

और फिर निर्मला को झकझोरकर वह उठाता है, "निर्मला··· निर्मला···" वह बदहवासी में कहता है।

निर्मला चौंककर उठती है और आँखें मलते हुए प्रकृतिस्थ होने की कोशिश करती है।

और बिजली जलाकर वह निर्मला को दोनों कन्धों से पकड़कर अपना मुँह उसके सामने करके डरी हुई आवाज में पूछता है, "मुझे पहचानती हो? मुझे पहचानती हो निर्मला ?"

निर्मला आँखें फाड़े देखती रह जाती है, धीरे से आश्चर्य-भरे स्वर में कहती है, "क्या हुआ ?"

और वह निर्मला को ताकता रह जाता है। उसकी आँखें उसके चेहरे-पर कुछ खोजती रह जाती हैं।

जॉर्ज पंचम की नाक

यह बात उस समय की है जब इग्लैण्ड की रानी एलिजाबेथ द्वितीय मय अपने पति के हिन्दुस्तान पधारने वाली थीं। अखबारों में उनकी चर्चा हो रही थी। रोज़ लन्दन के अखबारों से खबरें आ रही थीं कि शाही दौरे के लिए कसी-कैसी तैयारियाँ हो रही हैं—रानी एलिजाबेथ का दर्जी परेशान था कि हिन्दुस्तान, पाकिस्तान और नेपाल के दौरे पर रानी कब क्या पहनेंगी? उनका सेक्रेटरी और शायद जासूस भी उनके पहले ही इस महाद्वीप का तूफानी दौरा करने वाला था। आखिर कोई मजाक तो था नहीं। जमाना चूँकि नया था, फ़ौज-फाटे के साथ निकलने के दिन बीत चुके थे, इसलिए फ़ोटोग्राफ़रों की फ़ौज तैयार हो रही थी…

इग्लैण्ड के अखबारों की कतरनें हिन्दुस्तानी अखबारों में दूसरे दिन चिपकी नजर आती थीं, कि रानी ने एक ऐसा हलके नीले रंग का सूट बनवाया है, जिसका रेशमी कपड़ा हिन्दुस्तान से मँगाया गया है…कि करीब चार सौ पौण्ड खर्चा उस सूट पर आया है।

रानी एलिजाबेथ की जन्मपत्री भी छपी। प्रिन्स फिलिप के कारनामे छपे। और तो और, उनके नौकरों, बावरचियों, खानसामों, अंगरक्षकों की पूरी-की-पूरी जीवनियाँ देखने में आयीं। शाही महल में रहने और पलने वाले कुत्तों

तक की तस्वीरें अखबारों में छप गयीं…

बड़ी धूम थी। बड़ा शोर-शराबा था। शोर इंग्लैण्ड में मच रहा था, गूंज हिन्दुस्तान में आ रही थी।

इन खबरों से हिन्दुस्तान में सनसनी फैल रही थी। राजधानी में तहलका मचा हुआ था। जो रानी पाँच हजार रुपये का रेशमी सूट पहनकर पालम के हवाई अड्डे पर उतरेगी, उसके लिए कुछ तो होना ही चाहिए। कुछ क्या, बहुत कुछ होना चाहिए। जिसके बावरची पहले महायुद्ध में जान हथेली पर लेकर लड़ चुके हैं, उसकी शान-शौकत के क्या कहने, और वही रानी दिल्ली आ रही है…

नयी दिल्ली ने अपनी तरफ देखा और बेसाख्ता मुँह से निकल गया, "वह आयें हमारे घर, ख़ुदा की रहमत…कभी हम उनको कभी अपने घर को देखते हैं!" और देखते-देखते नयी दिल्ली का कायापलट होने लगा।

और करिश्मा तो यह था कि किसी ने किसी से नहीं कहा, किसी ने किसी को नहीं देखा पर सड़कें जवान हो गयीं, बुढ़ापे की धूल साफ़ हो गयी। इमारतों ने नाज़नीनों की तरह शृंगार किया…

लेकिन एक बड़ी मुश्किल पेश थी—वह थी जॉर्ज पंचम की नाक!… नयी दिल्ली में सब कुछ था, सब कुछ होता जा रहा था, सब कुछ हो जाने की उम्मीद थी पर जॉर्ज पंचम की नाक की बड़ी मुसीबत थी। नयी दिल्ली में सब था…सिर्फ़ नाक नहीं थी!

यह आन्दोलन चल रहा था। जॉर्ज पंचम की नाक के लिए हथियारबन्द पहरेदार तैनात कर दिये गये थे, क्या मजाल कि कोई उनकी नाक तक पहुँच जाये। हिन्दुस्तान में जगह-जगह ऐसी नाकें खड़ी थीं। और जिन तक लोगों के हाथ पहुँच गये उन्हें शानो-शौकत के साथ उतारकर अजायबघरों में पहुँचा दिया गया। कहीं-कहीं तो शाही लाटों की नाकों के लिए गुरिल्ला युद्ध होता रहा...

उसी ज़माने में यह हादसा हुआ, इण्डिया गेट के सामने वाली जॉर्ज पंचम की लाट की नाक एकाएक ग़ायब हो गयी! हथियारबन्द पहरेदार अपनी जगह तैनात रहे। गश्त लगती रही और लाट की नाक चली गयी।

रानी आयें और नाक न हो! एकाएक यह परेशानी बढ़ी। बड़ी सरगरमी शुरू हुई। देश के खैरख्वाहों की एक मीटिंग बुलायी गयी और मसला पेश किया गया कि क्या किया जाये? वहाँ सभी सहमत थे कि अगर यह नाक नहीं है तो हमारी भी नाक नहीं रह जायेगी...

उच्च स्तर पर मशवरे हुए, दिमाग़ खरोंचे गये और यह तय किया गया कि हर हालत में इस नाक का होना बहुत जरूरी है। यह तय होते ही एक मूर्तिकार को हुक्म दिया गया कि वह फ़ौरन दिल्ली में हाजिर हो।

मूर्तिकार यों तो कलाकार था, पर जरा पैसे से लाचार था। आते ही उसने हुक्कामों के चेहरे देखे, अजीब परेशानी थी उन चेहरों पर, कुछ लटके कुछ उदास और कुछ बदहवास थे। उनकी हालत देखकर लाचार कलाकार की आँखों में आँसू आ गये तभी एक आवाज सुनाई दी, "मूर्तिकार! जॉर्ज पचम की नाक लगनी है!"

मूर्तिकार ने सुना और जवाब दिया, "नाक लग जायेगी। पर मुझे यह मालूम होना चाहिए कि यह लाट कब और कहाँ बनी थी। इस लाट के लिए पत्थर कहाँ से लाया गया था?"

सब हुक्कामों ने एक-दूसरे की तरफ़ ताका...एक की नजर ने दूसरे से कहा कि यह बताने की जिम्मेदारी तुम्हारी है। ख़ैर, मसला हल हुआ। एक क्लर्क को फ़ोन किया गया और इस बात की पूरी छानबीन करने का काम सौंप दिया गया।...पुरातत्त्व विभाग की फ़ाइलों के पेट चीरे गये, पर कुछ भी पता नहीं चला। क्लर्क ने लौटकर कमेटी के सामने काँपते

हुए बयान किया, "सर ! मेरी ख़ता माफ़ हो, फ़ाइलें सब कुछ हज़म कर चुकी हैं।"

हुक्कामों के चेहरों पर उदासी के बादल छा गये। एक ख़ास कमेटी बनायी गयी और उसके ज़िम्मे यह काम दे दिया गया कि जैसे भी हो, यह काम होना है और इस नाक का दारोमदार आप पर है।

आख़िर मूर्तिकार को फिर बुलाया गया, उसने मसला हल कर दिया। वह बोला, "पत्थर की किस्म का ठीक पता नही चला तो परेशान मत होइए, मैं हिन्दुस्तान के हर पहाड़ पर जाऊँगा और ऐसा ही पत्थर खोजकर लाऊँगा।" कमेटी के सदस्यो की जान में जान आयी। सभापति ने चलते-चलते गर्व से कहा, "ऐसी क्या चीज़ है जो हिन्दुस्तान मे मिलती नही। हर चीज़ इस देश के गर्भ मे छिपी है, ज़रूरत खोज करने की है। खोज करने के लिए मेहनत करनी होगी, इस मेहनत का फल हमे मिलेगा···आने वाला ज़माना ख़ुशहाल होगा।"

यह छोटा-सा भाषण फ़ौरन अख़बारो मे छप गया।

मूर्तिकार हिन्दुस्तान के पहाड़ी प्रदेशों और पत्थरो की खानों के दौरे पर निकल पड़ा। कुछ दिन बाद वह हताश लौटा, उसके चेहरे पर लानत बरस रही थी, उसने सिर लटकाकर ख़बर दी, "हिन्दुस्तान का चप्पा-चप्पा खोज डाला, पर इस क़िस्म का पत्थर कही नही मिला। यह पत्थर विदेशी है।"

सभापति ने तैश में आकर कहा, "लानत है आपकी अक़्ल पर ! विदेशो की सारी चीज़ें हम अपना चुके हैं—दिल-दिमाग, तौर-तरीक़े और रहन-सहन, जब हिन्दुस्तान मे बाल डान्स तक मिल जाता है तो पत्थर क्यों नही मिल सकता ?"

मूर्तिकार चुप खड़ा था। सहसा उसकी आँखों में चमक आ गयी। उसने कहा, "एक बात मैं कहना चाहूँगा, लेकिन इस शर्त पर कि यह बात अख़बार वालों तक न पहुँचे···"

सभापति की आँखो मे भी चमक आयी। चपरासी को हुक्म हुआ और कमरे के सब दरवाज़े बन्द कर दिये गये। तब मूर्तिकार ने कहा, "देश में

अपने नेताओं की मूर्तियाँ भी हैं, अगर इजाजत हो और आप लोग ठीक समझें तो·· मेरा मतलब है सो···जिसकी नाक इस लाट पर ठीक बैठे, उसे उतार लाया जाये···"

सबने सबकी तरफ देखा। सबकी आँखों में एक क्षण की बदहवासी के बाद खुशी तैरने लगी। सभापति ने धीमे से कहा, "लेकिन बड़ी होशियारी से।"

और मूर्तिकार फिर देश-दौरे पर निकल पड़ा। जॉर्ज पंचम की खोयी हुई नाक का नाप उसके पास था। दिल्ली से वह बम्बई पहुँचा। दादाभाई नौरोजी, गोखले, तिलक, शिवाजी, कॉवसजी जहाँगीर—सबकी नाकें उसने टटोली, नापी और गुजरात की ओर भागा—गाधीजी, सरदार पटेल, विट्ठलभाई पटेल, महादेव देसाई की मूर्तियों को परखा और बंगाल की ओर चला—गुरुदेव रवीन्द्रनाथ, सुभाषचन्द्र बोस, राजा राममोहन राय आदि को भी देखा, नाप-जोख की और बिहार की तरफ़ चला। बिहार होता हुआ उत्तर प्रदेश की ओर आया—चन्द्रशेखर आजाद, बिस्मिल, मोतीलाल नेहरू, मदनमोहन मालवीय की लाटों के पास गया। घबराहट में मद्रास भी पहुँचा, सत्यमूर्ति को भी देखा और मैसूर-केरल आदि सभी प्रदेशों का दौरा करता हुआ पजाब पहुँचा—लाला लाजपतराय और भगतसिंह की लाटों से भी सामना हुआ। आखिर दिल्ली पहुँचा और उसने अपनी मुश्किल बयान की, "पूरे हिन्दुस्तान की परिक्रमा कर आया, सब मूर्तियाँ देख आया। सबकी नाकों का नाप लिया, पर जॉर्ज पंचम की इस नाक से सब बड़ी निकली।

सुनकर सब हताश हो गये और झुंझलाने लगे। मूर्तिकार ने ढाढ़स बँधाते हुए आगे कहा, "सुना है कि बिहार सेक्रेरिएट के सामने सन् बयालीस मे शहीद होने वाले बच्चों की मूर्तियाँ स्थापित हैं, शायद बच्चों की नाक ही फिट बैठ जाये, यह सोचकर वहाँ भी पहुँचा पर उन बच्चों की नाकें भी इससे कहीं बड़ी बैठती हैं। अब बताइए, मैं क्या करूँ?"

···राजधानी में सब तैयारियाँ थी। जॉर्ज पचम की लाट को मल-मल कर नहलाया गया था। रोगन लगाया गया था। सब कुछ हो चुका था, सिर्फ नाक नही थी।

बात फिर बड़े हुक्कामो तक पहुँची। बड़ी खलबली मची—अगर जॉर्ज पचम के नाक न लग पायी तो फिर रानी का स्वागत करने का मतलब? यह तो अपनी नाक कटाने वाली बात हुई।

लेकिन मूर्तिकार पैसे से लाचार था···यानी हारमान नेवाला कलाकार नही था। एक हैरतअगेज़ ख़याल उसके दिमाग़ मे कौंधा और उसने पहली शर्त दोहरायी। जिस कमरे मे कमेटी बैठी हुई थी उसके दरवाज़े फिर बन्द हुए और मूर्तिकार ने अपनी नयी योजना पेश की, "चूंकि नाक लगना एकदम जरूरी है, इसलिए मेरी राय है कि चालीस करोड़ मे से कोई एक ज़िन्दा नाक काटकर लगा दी जाये···"

बात के साथ ही सन्नाटा छा गया। कुछ मिनिटो की ख़ामोशी के बाद सभापति ने सबकी तरफ देखा। सबको परेशान देखकर मूर्तिकार कुछ अचकचाया और धीरे से बोला, "आप लोग क्यों घबराते है! यह काम मेरे ऊपर छोड़ दीजिए···नाक चुनना मेरा काम है, आपकी सिर्फ इजाज़त चाहिए।"

कानाफूसी हुई और मूर्तिकारो को इजाजत दे दी गयी।

अखबारो मे सिर्फ इतना छपा कि नाक का मसला हल हो गया है और राज-पथ पर इण्डिया गेट के पास वाली जॉर्ज पचम की लाट के नाक लग रही है।

नाक लगने से पहले फिर हथियारबन्द पहरेदारों की तैनाती हुई। मूर्ति के आस-पास का तालाब सुखाकर साफ किया गया। उसकी रवाब निकाली गयी और ताजा पानी डाला गया ताकि जो ज़िन्दा नाक लगायी जाने वाली थी, वह सूखने न पाये। इस बात की ख़बर जनता को नही थी। यह सब तैयारियाँ भीतर-भीतर चल रही थी। रानी के आने का दिन नज़दीक आता जा रहा था। मूर्तिकार ख़ुद अपने बताये हल से परेशान था। ज़िन्दा नाक लाने के लिए उसने कमेटी वालों से कुछ और मदद मांगी। वह उसे दी गयी। लेकिन इस हिदायत के साथ कि एक ख़ास दिन हर हालत मे नाक लग जानी चाहिए।

और वह दिन आया।

पीला गुलाब

आख़िर यह रोज-रोज़ पीला गुलाब आ कहाँ से जाता है ? आज पाँचवाँ दिन है, हर रोज इसी तरह, इसी वक्त ! बँगले में एक पौधा तक नहीं···उदास गिरजे-सा यह कॉटेज, इधर-उधर उगी हुई आवारा घास, जो बरसात मे बेतरह बढ गयी थी अब मुरझा-मुरझाकर सूख चली है। ये लम्बे-लम्बे शीशम के पेड़, इसके सिवा तो यहाँ कुछ भी नही, फूल का एक पौधा तक नहीं; फिर यह पीला गुलाब ?···और यह पीला रंग—जिसका घर-भर में नाम तक नहीं; न पीले परदे, न पीले मेज़पोश, न पीली साड़ियाँ, न ब्लाउज़···यहाँ तक कि पीली चूड़ियाँ भी नहीं, अँगूठी का पीला नग तक नहीं। कोई पीला रिबन ही बाँधता तो कुछ तो समझता ! कॉटेज के इतने बड़े कम्पाउण्ड मे एक कनेर का पेड तक नहीं···अमलतास ही होता, वह भी नहीं। अगर यह गुलाब का पीला फूल इस तरह रोज न दिखता तो शायद वह यह भी भूल गया होता कि पीला रग भी होता है। कॉटेज मे कही भी पीला रग और उसका चाहने वाला कोई है या नहीं ? हो सकता है वह गलती कर गया हो, उसकी आँखें धोखा खा गयी हों···होगा, ज़रूर होगा इस पीले गुलाब का चाहने वाला; वह ग़ौर से देखेगा और जिसने अपने को इतना खोला है वह और भी खुलना चाहेगा। आख़िर कब तक छिपायेगा अपने को ? एक

"ख़ाली प्लेटें ताक रहा है," मेजर साहब ने उसकी दबी हुई सतर्कता भाँपते हुए कहा, "तब तक सलाद ही सही आनन्द, टमाटर तो शायद तुम्हें पसन्द···"

और टमाटर के पीले बीजों को देखते ही वह जवाब नहीं दे पाया, मुसकराकर चुप रहा था। प्रभा और शुभा सामने बैठी थी, पर वह उन्हें ठीक से देख नहीं पा रहा था। उन्हें रोज़ देखा है, उनकी चाल-ढाल नाक-नक्शा सभी तो वह पहचानता है, पर आज इस क्षण जैसे सब कुछ चेतना से उतरा हुआ है···वह उन्हें नया-नया देख रहा है। प्रभा की अँगुलियाँ इतनी नाज़ुक थी? चावल खाते-खाते उसने नज़र हटाकर शुभा की अँगुलियाँ देखी, वे भी वैसी ही थी। मन में बनती हुई बात बिगड गयी।

"भूख तो इतनी लगी थी पर खाया अभी तक कुछ भी नहीं···" माँ ने कहा तो आनन्द ने प्रकृतिस्थ होने की कोशिश की, "आज सबके बाद तक खाऊँगा···"

"हाँ···हाँ···प्रभा···शुभा साथ देंगी," मेजर साहब ने कहा।

"इस पेटू का साथ मैं दूँगी! ना बाबा ना···मैं खा भी चुकी।" शुभा दीदी ने हमेशा की तरह व्यंग्य में कहा। उत्तर देने के बहाने आनन्द ने गौर से उसके कानों की तरफ़ ताका—फ़ीरोज़ी टॉप्स झिलमिला रहे थे, बोला, "वाह-वाह, अभी पुडिंग बाकी है, शुभा पुडिंग छोड दें यह आज तक तो हुआ नहीं···" सुनकर शुभा ने आँखें तरेरीं और प्रभा खिलखिलाकर हँस पडी, "भई, किसी की वीकनेस का···" सुनकर माँ और मेजर साहब मुसकराते हुए हाथ धोने के लिए उठ गये।

चूडियाँ अभी तक नहीं देखी, एकदम शुभा की चूडियों की ओर देखा तो लगा जैसे पीली-सी परछाईं उनमें हो। पर वह खिड़की में आती हुई धूप की किरन की करामात थी। हाथ हिलते ही चूड़ी का रंग आसमानी हो गया। एकाएक शुभा ने पूछा, "क्या ताक रहे हो आनन्द?"

"तुम्हारी चूडी रंग बदलती है···ज़रा धूप में करो हाथ।" आनन्द ने देखा—पीली-सी झलक फिर दिखाई दी। हँसते हुए शुभा ने कहा, "क्यों, रंग नहीं पहचान पाते? यह सफ़ेद है।"

"लगता है, तुम्हें सफ़ेद रंग बहुत पसन्द है···" बहुत चालाकी से

आनन्द ने बात शुरू की।

"तुम्हे तो काला पसन्द होगा।"
जोड दिया, "इसीलिए इन्हें गाय की ·
बात कुछ ऐसी उड़ी कि उसकी सारी ·
कर वह बोला, "लडकियो को थोडी-

"तो तुम्हारे हिस्से मे पूरी भैंस ..
परमात्मा ने···" शुभा ने बात काटी,
रिसर्च कर रहे है बेचारे। बगैर दूध

आनन्द सिवा मुसकाने के
जब उसे इस तरह घेर लेती हैं तो
मेज पर या शाम को अधिकतर
नही···फुलवारी होती या लॉन ही होता
भी जाता, ऐसे मे कौन बैठे ? मेजर
है, जिन्दगी को भरा-पूरा और हँसता -
कहते है, "इतनी वीरानी देखी है··
अब दिल नही करता सजाने को।
बाग को फिर से उजड़ते हुए देखने का
की कोख जल गयी···कितने जंगल
गये, उन्हें कौन जिलायेगा ? जब भी एक
याद आती है···लड़कियाँ भी एक दिन
कहते-कहते उनका स्वर बिखर जाता था।
कचोट उठता था। शायद वह दिन आये
सके। शुभा जानती थी सब, इसीलिए ·
क्या रखा है ? प्रभा की शादी क्यो रुकी
गयी।" और तब प्रभा की आँखें भर-भर
नही-नही, जब दीदी अपने घर जायेगी
दूसरी शादी कर ले···

आनन्द का मन करता है—यह रिस
खामोशी को तोड़ दे। इतना हँसने-हँसाने के

सब भूल क्यों जाती हैं? कमरे के बाहर आहट सुनकर वह सचेत हुआ। काम की सुविधा के लिए इन लोगों ने उसे ऐसा अलग कमरा दे दिया है कि जब कोई ख़ास तौर से आये तभी यह आहट सुनाई पड़ती है। प्रभा होगी···पर नही वह शुभा थी। उसे देखते ही मेज पर पड़ा पीला गुलाब उसने अख़बार से ढँक दिया। शुभा ने यूँ ही पूछा, "कुछ काम हुआ? कितने पन्ने लिखे···?"

"इधर चार-पांच दिनों से रत्ती-भर काम नही हुआ। लायब्रेरी से लौटता हूँ तो न जाने क्या हो जाता है, कमरा बदला-बदला नज़र आता है···" अखबार के उठे हुए परत से वह पीला गुलाब झांक रहा था···और उसकी चेतना में कहीं प्रभा अटकी हुई थी, तब तक शुभा ने कहा, "शायद तुम्हारा मन नही लगता···" और उसने यूँ ही मेज़ पर पड़ा अख़बार उठा लिया, गुलाब देखकर भी जैसे उसने नही देखा। आनन्द कुछ सकुचाया, एकदम बोला, "यह गुलाब देखो शुभा! मेरी लायब्रेरी के लॉन में इतने ख़ूबसूरत गुलाब लगे हैं कि बस देखती रह जाओ!"

"वहीं से तोड़ लाये!" शुभा ने कहा और बग़ैर उत्तर की प्रतीक्षा किये बोली, "घर से कोई खत आया? कुछ दिनों के लिए पिताजी को ले आओ यहाँ। आबहवा बदलने से कुछ-न-कुछ तबीयत बदलेगी···"

"वैसे ही तुम लोगों को छह महीने से परेशान कर रहा हूँ, एक मुसीबत और ले आऊँ ··" आनन्द बोला।

"उन्हें छोड़कर तुम चले जाना।" कहते हुए शुभा धीरे से मुसकरायी, "पापा शायद उन्हें देखने जायें, कहते थे—एक ही तो दोस्त है मेरा!" शुभा की बात सुनकर बार-बार एक ही प्रश्न उसके दिल में उठता रहा—शायद प्रभा के लिए···शायद प्रभा के लिए···और जब-जब प्रभा का ध्यान उसे आता, वह पीला गुलाब उसकी आँखों के सामने नाचने लगता ···बाहर एक भी पेड़ नहीं, भीतर घर में शायद कोई पौधा हो। पूरा घर भी तो नही देखा उसने···कभी मौक़ा ही नहीं आया और अगर आया भी तो उसने ख़याल तक नहीं किया कि कोई पौधा वहाँ है या नहीं? कोई काम भी नही पड़ता भीतर जाने का। इतना ख़याल रखते हैं सब कि हर चीज कमरे में हाज़िर हो जाती है। पर ऐसा भी क्या संकोच, इतना

दीता इनका /

खोजता हुआ शुभा से बोला, "चलो आज तुम्हारा कमरा देखें, क्या-क्या कूड़ा-करकट भर रखा है तुमने।" कहते हुए वह उठ खड़ा हो गया।

बाहर निकलते हुए शुभा ने कहा, "लड़कियों के कमरे नहीं देखे जाते···" और बाहर बरामदे के खम्भे से लिपटी हुई सूखी बेल देखकर स्वयं उसका मन उचाट हो गया। तभी बाहर गेट पर किसी लडकी की खिल-खिलाहट सुनाई दी। प्रभा की सहेलियाँ होंगी—नीलम, कमला और विनोद। शुभा उनके साथ चली जायेगी, यह वह जानता था। चुपचाप पीठ किये खड़ा रहा। शुभा बढकर बरामदे के नीचे उतर गयी।

आनन्द ने उन चारो को फासले पर जाते हुए देखा कि पीली साड़ी एकाएक कौंध गयी···कॉटेज के कोने पर मुड़ते हुए एक पीला पल्ला काँपती शाख की तरह लहराया और ओझल हो गया। मन की अन्ध गुहाओ में जैसे पीली-पीली प्रकाशवान धूप भर गयी हो, आँखों के सामने अमलतास के लाखों गुच्छे लहरा रहे हों···पीली-पीली घास हवा में लहरा रही थी। वृक्षो के लाखों-लाख पत्ते पीले हो रहे थे, सुनहली इमारतें जगमगा रही थीं और ऊपर पीले आसमान का शामियाना तना था। पश्चिम से पीली आँधी उमडती चली आ रही थी—सामने न आकार था, न गन्ध, न रूप, केवल पीला रंग···रंग···घबराकर उसने दोनों हाथ आँखों पर कस कर रख लिये, बन्द पलकों के अँधियारे में पीले-पीले वृक्ष चमक उठे।

वह उधर गया, घूमकर दोनों दीवारें पार की, प्रभा के कमरे की खिड़की पीछे खुलती है, वह पीतवस्त्रा वही होगी। खिडकी तक गया, पर उस पर भारी नीला परदा पडा था, ज़रा-सा हवा से काँपता तो वह देख पाता और कोई उसे इस तरह यहाँ खड़ा देख ले? उगी हुई आवारा घास को कुचलता वह आगे बढ गया, कुछ इतनी सामान्यता से जैसे किसी देखने वाले को भ्रम से आश्वस्त कर रहा हो—ज़रा यूँ ही घूम रहा था। रसोई-घर के पास वाला पिछला दरवाज़ा खुला था। वह भीतर चला गया। आँगन और बरामदे सूने थे। सतर्क नज़रों से उसने कोना-कोना छान डाला। आँगन मे एक पौधा तक नहीं, तुलसी तक नहीं! बरामदो में एक भी गमला नहीं, खाली मकान की तरह बेरौनक पड़े हुए बरामदे और आँगन। पर

सहसा विश्वास नही हुआ। होगा, यहीं कही होगा वह पीला गुलाव का पोधा। बरामदे से भीतर जाने वाले गलियारे मे झाँककर देखा, एक मेज पडी थी, उस पर अखवार विखरे थे और ऊपर खूँटी में मेजर साहब का पुराना हैट लटका था। लौटते हुए उसने फिर एक बार चारों तरफ निगाह दौडायी, कुछ भी न पाकर दबे पाँव बाहर निकल आया। प्रभा और शुभा की ओर से ध्यान हट गया था, वह नही हो सकती···गुलाव क्या, घर में घास तक नही। जरूर वही लडकी होगी, पर वह रोज कैसे आ सकती है। क्या पता, आती हो? जब वह लायब्रेरी चला जाता है तब आती हो, प्रभा और शुभा से मिलने। उनसे मिलने का बहाना तो करना ही पड़ता होगा।

पर न जाने क्यों मन बार-बार हठ करता था—प्रभा ही होगी। मन उसी को स्वीकार करना चाहता था। वही बँगले के अहाते मे घूमने से दोनों बातें सधती थी, वह अहाते का चप्पा-चप्पा छान डालेगा, पीले गुलाब के पौधे को खोज निकालेगा आज, जिसमे रोज फूल आता है। और वह लडकी प्रभा के कमरे मे निकलेगी जरूर, उसे देख पायेगा। उसे पहचान पायेगा।

नीम की एक सण्टी तोड़कर घुमाता हुआ वह फेंसिंग की ओर उगी झाड़ियो की तरफ़ वढ़ा। तमाम कँटीली झाडियाँ एक-दूसरे से उलझी खडी थी, पत्ते धूल से ढँके थे और जगह-जगह मटमैला जाला पुरा था। पर वह घुस गया। पैरों पर काँटो ने खरोंचें मार दी पर वह रौंदता हुआ उन्हे पार कर शीशमों के नीचे पहुँचा। सूखे पत्तो ने आवाज की। एक क्षण खड़े होकर उसने निहारा। पास-पास उगे शीशमो की छाया मे जगह-जगह धरती पर धूप के पीले फूल खिले हुए थे। आहट सुनकर एकदम उसने पलटकर देखा। उसे भ्रम हुआ था। अभी-अभी तो आयी है वे लोग, कुछ देर जरूर रुकेंगी। सण्टी घुमाता हुआ वह दार्शनिकों की भाँति दूसरे छोर की ओर चला। कटैया और झरबेरी के एकाध पौधे खड़े थे, गुलाब भला यहाँ कहाँ? आगे नागफनी की बाढ़ थी। राक्षसी रोंगटों की तरह उगे हुए काँटे···उसके गुलाब की पीत पँखुरियाँ उन काँटों में उलझकर जगह-

जगह छिदकर फट गयी थी। यह एकदम घूमकर दूसरी ओर बढ़ गया —घास ही घास थी···दरवाजे पर खटका हुआ। लम्बे-लम्बे डग भरता वह ऐसी जगह आ खड़ा हुआ जहाँ से बाहर जाने वाला रास्ता दिखाई पड़ता था। लेकिन दरवाजा हवा से खटका था। मन मारकर वह कमरे की ओर लौटने लगा। यह भी क्या वहशत है? तमाम टाँगें छिल गयी। कुरते का कोना काँटों ने फाड़ डाला। पर मन नहीं माना। कुछ करने में जी भी तो नहीं लगता। यह दक्षिण वाला हिस्सा तो रह ही गया। ठीक उसके कमरे के पीछे वाला। वह पौधा यहीं होगा, उधर ही खिड़की खुलती है उसकी, जिससे गुलाब फेंका जाता है। पीछे कूड़े का अम्बार लगा था। घर में बना सब्जियों के छिलके और अँगीठी की राख, बचा हुआ खाना और अण्डों के छिलके। शीशम की सूखी हुई डालियाँ और घास का ढेर। मन एकदम उचाट हो गया। माथे पर पसीना छलछला आया था। गुलाब नहीं मिला। वहाँ से पसीना पोंछते हुए वह थका-सा कुरसी में धँस गया···उफ़, कभी-कभी मन कितना छलता है। अपनी अनुभूतियों, उद्वेगों, भावनाओं और भ्रमों तक को किसी एक में ही केन्द्रित करके देखने का विश्वासी ही नहीं, अभ्यासी हो जाता है, उससे परे कुछ देखता ही नहीं, देखना ही नहीं चाहता। पर मन की छलना कितना दुख देती है, कितनी टीस, कितनी अकुलाहट···न जाने क्यों उसे प्रभा झूठी-झूठी-सी लगने लगी। सचाई उस पीले गुलाब में है। एक अजीब-सा विराग मन को सालता था। एक अजीब-सा राग मन को बाँधता था। वह पीला गुलाब···दूर कहीं से गन्ध आती है।

प्रभा की सहेलियाँ कब चली गयी, यह उसे पता तक न चला। तब से कान लगाये बैठा था, पर यह कमरा इतनी दूर पड़ता है कि आते-जाते कोई खबर नहीं मिलती। लेकिन मन में नया विश्वास पनपा था, वह मिलेगी···यहीं कहीं बदहवास-सी घूमती हुई, रास्ता काटकर जाती हुई या किसी एकान्त कोने में चुपचाप खड़ी हुई। इतनी बड़ी पहचान छिपायी कैसे जायेगी? वह जायेगा नहीं कमरे से!

और जब दूसरे दिन चाय पीकर वह कमरे में लौट आया तो बैठ ही

गया···अब आयेगा वह फूल । एकाएक शुभा और प्रभा आ गयीं । उसका दिल बेतरह धड़का था पर उन्हें देखकर वह सीधा बैठ गया, कुछ कहता—तब तक शुभा ने पूछा, "आज लायब्रेरी नहीं जाओगे ?"

"यहीं कुछ काम है । देर से जाऊँगा, या शायद न भी जाऊँ।" आनन्द ने कहा और अपने कागज पलटने लगा ।

"आइए, यहाँ डेरी तक होते आयें," प्रभा ने कहा । वह चाहता तो नहीं था पर प्रभा का कहना टाले भी कैसे ? तब तक शुभा ने बचा लिया, "इन्हें काम करने दो, दो मिनिट का रास्ता है, ये दस मिनिट कपड़े बदलने में ही लगा देंगे ।" कहती हुई वह प्रभा को लेकर बाहर निकलने लगी, "बैठो-बैठो आनन्द, हम अभी तुम्हारे लिए पनीर लाती हैं ।" आनन्द ने सन्तोष की साँस ली । मेज पर बैठा वह बाबूजी को चिट्ठी लिखता रहा, पर कोई आहट नहीं हुई । जब काफ़ी देर हो गयी तो जी उदास हो आया । ट्रंक से कपड़े निकाले, बटन आदि देखे और रख दिये, फिर एक पुराना ब्लेड लेकर पैर के नाखून काटने लगा, जगह-जगह कच्चे नाखून काट लिये, हाथ सधता ही नहीं था । उसी उधेड़-बुन में बैठा था कि प्लेट में पनीर के टुकड़े लिये प्रभा ने प्रवेश किया, "पनीर खाओगे आनन्द ?"

"ये पनीर है ? पनीर तो सफ़ेद होता है ।" प्लेट में पीले-पीले पनीर की पतली तराशी हुई पत्तियाँ-सी पड़ी थीं ।

"ये यहाँ डेरी का नहीं है, ताजा पनीर सफेद होता है, यह तो हमने डेरी वाले से बन्द डिब्बा मँगवाया था । खाओ, अच्छा होता है ।" प्रभा बोली । प्लेट में पीले गुलाब की पँखुरियाँ-सी पड़ी थीं, लिपटी-लिपटी । उठाकर सूँघा, वह गन्ध नहीं थी । सूँघकर देखते प्रभा बोली, "सूँघ क्या रहे हो, खाके देखो ।" पसन्द जानकर शायद अपनी बात का कोई सिलसिला वह जोड़ सके, इसलिए पूछा, "तुम्हें बहुत पसन्द है क्या ? महक तो नहीं, पर रंग बड़ा प्यारा है ।"

"पापा को पसन्द है ।" प्रभा ने बात बदलते हुए एकाएक कहा, "क्या हुआ है तुम्हें ?" कहते-कहते उसकी आँखों में अवसाद भर आया । आनन्द ने लक्ष्य किया । हाथ पकड़ते हुए बोला, "तुम्हें वक़्त कहाँ मिलता है···मैंने बाबूजी को लिख दिया है ।"

"क्या ?" प्रभा ने समझते हुए भी पूछा।

"यह भी बताना पड़ेगा। सुना, मेजर साहब उन्हें देखने जा रहे हैं।" उसने प्रभा की ओर देखा, आँखों में उलाहना भरे वह बोली, "तुम्हें सब पता रहता है···लोग समझते हैं बड़े सीधे हो। अच्छा मैं चली···" वह चलने को हुई तो आनन्द ने पूछ लेना चाहा···वह गुलाब, पर कह नहीं पाया, वह कोई दूसरा ही हुआ तो। और मन कहीं दूर भटक गया।

आज का दिन खाली चला गया। गुलाब नहीं आया, बड़ा रीता-रीता लगा, जैसे कोई अपना न आया हो। उसे पकड़ पाने में यदि यह रिक्तता ही हाथ आती है तो वह अजाना ही रहे···उस अनजान की भावना से सम्पन्नता का बोध होता है—कोई है, कोई कहीं है···

और इन दिनों के बीच वह उद्विग्नता और बढ़ गयी थी। मेजर साहब उसके बाबूजी को देखने गये थे, आज लौटते होंगे। इस बीच वह रोज लायब्रेरी गया है और रोज वह फूल आया है। प्रभा की सहेलियाँ भी रोज आयी हैं, पर प्रभा ने कभी वह आभा नहीं दिखाई···पीताभ झलक। जूड़े में फूल ही लगाती, वह भी नहीं। और उस दिन से वह नित्य देखता है, कोई पीली साड़ी पहनकर नहीं आया। जिन आँखों ने देखा, उनमें से किसी ने भी पीले फूल की बात नहीं कही। जी में आया, शुभा से पूछे, पर वह बहुत चिढ़ायेगी, इस बचपने पर बड़ी-बूढ़ियों की तरह सीख देगी। और इन दिनों उसकी उदासी भी तो गहरा गयी है, यह प्यार की बात उसे कितना दुःख देगी।

सारे गुलाब उसने मेज पर इकट्ठे कर लिये, बड़ी देर तक उन्हें देखता रहा। पूर्ण विकास के बाद समय से संकुचित हुए मौन पीताभ गुलाब। कितनी पँखुरियाँ झर गयी थीं वहीं, बस केवल गन्ध उठती थी·· केवल गन्ध, अदेखी अजानी गन्ध। स्पर्श से परे, दृष्टि से दूर—कोई गुलाब वन महकता था।

पैरों में चप्पल डालकर वह फाटक से बाहर आया। प्रभा और शुभा किसी सहेली के घर से लौट रही थीं, पूछा, "कहाँ से ?"

"विनोद की कोठी तक गयी थी।" प्रभा ने बताया।

"यही कही पास रहती है?" सिर्फ़ बात करने के लिए उसने कह दिया था।

"कोने वाली पीली कोठी उसीकी है। तुम कहाँ जा रहे हो? खाने का वक्त हो गया है।" प्रभा ने कहा तो एकदम बात काटकर बोला, "अभी आया, दस मिनिट मे। तुम लोग चलो, बस अभी···" और वह बढ गया—काश वही हो गुलाब-वन। आज वह खोजकर मानेगा।

न जाने कहाँ-कहाँ घूमा। पलकों पर धूल की परत जम गयी, पर वह नही मिला। चोरो की तरह हर लॉन की चहारदीवारी से उचक-उचक कर देखा, पर कही भी नहीं। कोठी पीली थी, पर गुलाब लाल थे वहाँ, बहाना करके माली से मिला, दवा के लिए पीला गुलाब चाहिए···एक फूल से काम चल जायेगा·· पर माली कहाँ से देता, था ही नही, लाल है साहब!

आखिर वह लौट आया। यह भी कोई बात हुई भला? उसी दोपहर से वह सारी बातो को दिल से निकालकर काम में लग गया, कभी मन मे बात उठती तो दाब जाता।

शाम की गाड़ी से मेजर साहब लौट आये, बड़े सन्तुष्ट थे। हाल-चाल बताकर उन्होंने बाबूजी का पत्र उसके हाथों में थमा दिया। कमरे मे आकर उसने पढ़ा, लिखा था—"मेजर भइया से सब हाल मालूम हुआ। मैंने उन्हें स्वीकृति दे दी है। तुमने शायद संकोच के कारण मुझे कुछ नही लिखा। अब तुम्हारे पत्र का इन्तज़ार करूँगा। तुमने जो सोचा है वह ठीक ही है, मुझे आपत्ति भी क्या होती। अपनी रिसर्च का ख़याल रखना। हो सके तो दो दिन के लिए यहाँ ज़रूर चले आओ।" यह तो होना ही था। कुछ इस तरह की भावना के कारण उसे मात्र सन्तोष हुआ। बहुत प्रसन्नता हुई हो, ऐसा वह नही कह सकता। पर राहत ज़रूर मिल गयी थी, प्रभा की आकृति सामने आयी और गुदगुदा गयी। मेजर साहब बहुत प्रसन्न थे, माँ भी कम ख़ुश नही थी और शुभा रात के वक़्त आकर उसे तमाम हिदायतें दे गयी थी, "अब सलीक़ा सीखो। परिवार में रहने की आदत डालो। काम का वक़्त बदलो और भैंस का दूध पीना तो छोड़ दो···" वह हँसी भी

थी, पर जाते-जाते उसके चेहरे पर कितनी ख़ुशी और थी, यह वह नही देख पाया। जब वह बरामदे से गयी थी तो उसकी परछाईं उसके आगे-आगे और लम्बी होकर फैलती जा रही थी।

घर मे कोई विशाल परिवर्तन नही आया। उसी तरह सब चलता रहा। वही खाना-पीना, उसी तरह मिलना-जुलना। हाँ, प्रभा कुछ सयत दिखाई पडती थी और शुभा कुछ छेड़ छाड़ करने लगी थी। अब घर मे शुभा ही अधिक घूमती। न जाने क्यों पहले से अधिक व्यस्त दिखाई देती थी। कही भी निश्चिन्त होकर न बैठती, आती और चली जाती।

प्रभा की सहेलियाँ रोज आती थी और वह गुलाब भी, रोज उसी तरह···मेजर साहब को लौटे पाँच दिन हो गये थे, वह बाबूजी को पत्र भी डाल चुका था, यह भी लिखा था कि इसी महीने के अन्त तक वह आयेगा···

पर उस दिन न जाने क्या हुआ? कैसा था वह दिन। आसमान साफ़ था, सुबह आया हुआ फूल उसने चूमा था, आँखों से लगाकर दीवारगीरी पर रख दिया था। दोपहर खाना भी सबने अच्छी तरह खाया, केवल शुभा नही थी। उसकी तबीयत कुछ ठीक नही थी शायद, पर यह सब उसने क़तई नही सोचा था। अकस्मात् जब शाम को टहलकर लौटा तब सूरज डूब चुका था। कॉटेज के फाटक को जब खोलकर भीतर आया तो हमेशा की तरह खामोशी छायी थी, पर यह आवाज़े···कही दूर कोई रो रहा था शायद। बरामदें पहुँचकर भी वह कुछ नही समझ पाया। उसने यहाँ किसी को रोते नही सुना था। पर माँ रो रही थी और मेजर साहब शिला की तरह मौन खड़े थे। कमरे मे और कोई नही था कि तभी प्रभा ने आकर अपनी सूजी आँखों से उसे देखते हुए बाँहों से पकड़ लिया था, "आनन्द··· आनन्द··"

"क्या बात है प्रभा?" उसने बेहद हैरानी से पूछा।

स्वर सिसकियों मे डूब गया, "शुभा दीदी···"

और उस रात ही शुभा का शव जला दिया गया। घर मे बेहद ख़ामोशी छा गयी। दो दिन न प्रभा ही दिखाई दी और न माँ। मेजर साहब अकेले घूमने जाने लगे। शुभा की ससुराल से कोई नही आया। वह

भी अपना कमरा बन्द किये पड़ा रहा। मन में हज़ार बातें उठती थी। प्रभा कहती थी, "दीदी ने कुछ कर लिया। क्या कर लिया? क्यों कर लिया?" जी होता था, इन सब से जान छुड़ाकर भाग जाये। गुलाब आता था, वह भी नही आया। पर वह अपने कमरे से निकलकर गया भी कहाँ? कमरा छोड़कर कही जाने को मन ही नही करता। खिड़की का परदा हटाकर वह सीखचों से देखता रहा, कॉटेज की सीमा वाली कच्ची मेड़ पर नागफनी उगी थी। बाँस की झाड़ियों का जमघट उधर कोने पर था और खिड़की के सामने वही ढेर था—शीशम की सूखी डालों का, उसी पर पडी हुई मिट्टी और कूड़ा, सब्ज़ियों के छिलके कहाँ से आते, उलटा-सीधा खाना पक जाता है। दृष्टि हटाकर वह दूर जाती सडक निहारता रहा कि कूड़े के ढेर पर फिर नज़र अटक गयी···गुलाब का पौधा कूड़े के ढेर पर···

कमरे से निकलकर वह बाहर गया। छोटा-सा पौधा पड़ा था, सचमुच गुलाब का ही है। उठाकर देखा, पत्तियाँ लगभग सूख चली थी और शाखों के काँटे उन मुरझायी पत्तियों के बीच बड़े उभरे-उभरे-से थे। टहनियाँ अभी हरी थी···गुलाब! और वह पीला गुलाब! कुछ भी समझ सकना दिमाग की शक्ति के बाहर हुआ जा रहा था···आख़िर यह यहाँ आया कहाँ से? यही होगा उस पीले गुलाब का पौधा। पर मन हज़ार शकाएँ करता था, लेकिन कुतुबनुमा की तरह बार-बार सुई उधर ही सकेत करती थी··· कौन होगा इसके सिवा, पर यह आया कहाँ से? कौन लाया इसे? लेकिन यह पीला गुलाब ही है—न हुआ तो···हो या न हो, पर उससे फेंका नही गया···।

फ़ाटक से भीतर आने वाली राह के दोनो ओर पुरानी बनी क्यारियो की लकीरें अभी शेष थी। उखड़ी-उखड़ी ईंटें भी कही-कही थीं। चाक़ू लेकर वह गया, गड्ढा खोदा···और उस पौधे को रोपकर भीतर गया। सबकी आँख बचाकर पानी लाया। पौधे को पानी देकर उसके चारों ओर लम्बी-लम्बी घास खडी की—कोई न देखे इसे, बस वह देखेगा···जब यह गुलाब एक बार फिर जियेगा···पर कही पीला न हुआ···अभी से क्यों सोचे? जैसा भी होगा, सामने आयेगा···

गुलाब रोपकर वह कमरे में आया। उदास मन पलग पर लेटा रहा,

इन सब बन्धनों से मुक्ति पा लें···प्रभा से कहे, मुझे अभी कुछ भी मंजूर नही । मैं अकेला जीना चाहता हूँ । किसी भी दायित्व और ज़िम्मेदारी से अलग-थलग होकर । मन को बड़ी बेबसी बाँधती है । कुछ भी इन आँखों के सामने साफ नही है । मैं कुछ भी निश्चय नही कर पाता । जो निश्चय किया है उस सबको तोड़ देना चाहता हूँ, जो निश्चय नही किया है उसे कर लेना चाहता हूँ···

रोज वह देखता रहा । पौधे की पत्तियाँ सूखकर झर गयी, टहनियाँ कत्थई पड़ गयी और काँटों के सिरे काले हो गये—पर वह आँख बचा-बचाकर उसे पानी देता रहा । एक दिन देख ही लिया प्रभा ने, पास आते हुए बोली, "कोई पौधा लगाया है क्या ?"

आनन्द उसे आधे रास्ते ही मे रोककर इधर-उधर की बातो मे बहका ले गया, "बाबूजी की तबीयत फिर खराब हो गयी है ।"

"दो-एक दिन के लिए चले जाओ ।"

"लिखा तो मैंने भी था, सोचता हूँ देख आऊँ···" और बात इधर-उधर हो गयी । उस दिन तो वह नही गया, पर दूसरे दिन गुलाब मे पानी देकर वह दो-तीन दिनों के लिए घर चला गया । घर चला तो गया पर शका बनी रहती थी—कही उस गुलाब को किसी ने उखाड़ फेंका तब? तब क्या होगा ? सोचकर मन बहुत घबराता था ।

बतायी हुई गाड़ी से वह लौट आया । प्रभा स्टेशन पर ही मिली, एकदम उसने पूछना चाहा, "वह गुलाब उखाड़ तो नही दिया ?" पर पूछ नही पाया, ताँगे मे बैठते-बैठते प्रभा ने कहा, "तुम्हे पौधो का शौक है, यह मुझे मालूम ही नही था । अब देखना चलकर, बड़ा अच्छा माली खोजकर लायी हूँ ।"

सुनकर उसके दिल पर हथौड़ा-सा पडा । वह गुलाब अब नही होगा । न जाने कहाँ फेंका होगा माली ने । बस एक फूल-भर देख पाता उसका··· उसका फूल ज़रूर पीला होता···बात करते-करते बार-बार मन मे टीस उठती थी, उसका क्या हुआ होगा ? अब नही देख पायेगा उसे ? वह सब

कुछ बिलकुल अदेखा ही रह जायेगा ! अपरिचित !

फाटक पर आते ही पहली नजर उसने उधर ही दौड़ायी—क्यारियाँ बन गयी थी, साफ-सुथरी, कही गोल, कही चौकोर, कही लम्बी। फ़ाटक से भीतर जाती राह वाली क्यारियों में तमाम गुलाबो की क़लमें लगी थी। राह के दोनों ओर—उसका गुलाब भी कलम कर दिया था माली ने। वहाँ होते हुए भी वह खो गया, पचासों एक-सी कलमे लगी थी। देखकर मन वेहद डूब गया, अपने को छिपाता हुआ बोला, "यह बहुत अच्छा किया तुमने।" और मन में कही आवाज़ उठ रही थी, वह खोया नही है, वह मिलेगा ···"ये कलमे कहाँ से मँगवायी है ?" उसने पूछा था।

"विनोद की कोठी से लाने को कहा था। वह माली न जाने कहाँ-कहाँ से चुन-चुनकर पौधे लाया है।" प्रभा ने बताया तो सहारा मिला। उसका गुलाब खोया नही है। वह सबके साथ बढ़ेगा और गुलाब भी फूलेंगे पर उसका रग और उसकी गन्ध वह पहचान पायेगा। वह पौधा अकेला होगा—इन सबके बीच···

और एक बार फिर वह उन सबके बीच किसी एकाकी पौधे की तरह ही निरपेक्ष, पृथक् व्यक्तित्व लिये रहने लगा। प्रभा आती, बात करती और चली जाती। वे साथ-साथ घूमने जाते, पर उसका मन भटकता रहता।

गुलाबों मे पत्तियाँ आयीं, टहनियाँ फूटी। नन्ही-नन्ही कलियाँ आयी। कही माली ने उस पौधे को सूखा समझकर उखाड़कर फेंक ही दिया हो ? कही उसका गुलाब न फूला तव···वह पहचान भी तो नही पाता। वह गुलाब न फूला तब कितनी चोट लगेगी। कैसा लगेगा मन को। सचमुच अगर वह गुलाब खो ही गया, तब···

मन मे दुश्चिन्ताएँ उठती थी, पर कही कुछ था जो कहता था वह गुलाब इन्ही मे है, वह अपना रहस्य खोलेगा। वह पीला गुलाब सबसे अलग मुसकरायेगा···सिर्फ तुम्हारे लिए···सिर्फ तुम्हारे लिए वह खिलेगा, उसे खुद अपने हाथों मे चुनकर लाना यहाँ। लाल गुलाबो के बीच मुस-कराता हुआ एक पीला गुलाब···अर्पित गुलाब !

एक रात जब वह टहलकर लौटा तो देखा, कई पौधों मे कलियाँ आ गयी हैं। मन मे शकाएँ जागी। रात मे रंग भी नही दिखता। जाकर

कमरे से दियासलाई लाया। तीलियाँ जला-जलाकर एक-एक कली को देखा, सब सफेद लगती थी···कुछ लाल थी। हारकर कमरे मे आ लेटा··· इन्ही मे से एक पीली होगी···जरूर एक कली पीली होगी। इसी उधेड़-बुन मे वही रात तक जागता रहा था।

आँख खुली तब दिन निखर आया था। रात का सपना उसे बार-बार याद आ रहा था। कम्बल हटाकर आँखें मलता हुआ बाहर निकला, बरामदे से उतरकर सीधा गुलाब की बाड़ की ओर गया···

क्यारियो मे तमाम गुलाब मुसकरा रहे थे—दस, पन्द्रह, बीस···पीले-पीले। लाल गलाबों की बाड़ आगे लगी थी।

दिल्ली में एक मौत

चारों तरफ कुहरा छाया हुआ है। सुबह के नौ बज चुके हैं, लेकिन पूरी दिल्ली धुन्ध में लिपटी हुई है। सड़कें नम हैं। पेड़ भीगे हुए हैं। कुछ भी साफ़ नहीं दिखाई देता। जिन्दगी की हलचल का पता आवाजों से लग रहा है। ये आवाजें कानों में बस गयी हैं। घर के हर हिस्से से आवाजें आ रही हैं। वासवानी के नौकर ने रोज की तरह स्टोव जला लिया है, उसकी सनसनाहट दीवार के पार से आ रही है। बग़ल वाले कमरे में अतुल मवानी जूते पर पॉलिश कर रहा है···ऊपर सरदारजी मूँछों पर फ़िक्सो लगा रहे हैं···उनकी खिड़की के परदे के पार जलता हुआ बल्ब बड़े मोती की तरह चमक रहा है। सब दरवाज़े बन्द हैं, सब खिड़कियों पर परदे हैं, लेकिन हर हिस्से में ज़िन्दगी की खनक है। तिमंज़िले पर वासवानी ने बाथरूम का दरवाज़ा बन्द किया है और पाइप खोल दिया है···

कुहरे में बसें दौड़ रही हैं। जूं-जूं करते भारी टायरों की आवाजें दूर से नज़दीक आती हैं और फिर दूर होती जाती हैं। मोटर-रिक्शे बेतहाशा भागे चले जा रहे हैं। टैक्सी का मीटर अभी किसी ने डाउन किया है। पड़ोस के डॉक्टर के यहाँ फ़ोन की घण्टी बज रही है और पिछवाड़े गली से गुज़रती हुई कुछ लड़कियाँ सुबह की शिफ़्ट पर जा रही हैं।

सख्त सर्दी है। सड़कें ठिठुरी हुई हैं और कोहरे के बादलों को चीरती हुई कारें और बसें हॉर्न बजाती हुई भाग रही हैं। सड़कों और पटरियों पर भीड़ है, पर कुहरे में लिपटा हुआ हर आदमी भटकती हुई रूह की तरह लग रहा है।

वे रूहें चुपचाप धुन्ध के समुद्र में बढ़ती जा रही हैं··· बसों में भीड़ है। लोग ठण्डी सीटों पर सिकुड़े हुए बैठे हैं और कुछ लोग बीच में ही ईसा की तरह सलीब पर लटके हुए हैं—बाँहें पसारे, उनकी हथेलियों में कीलें नहीं, बस की बर्फ़ीली, चमकदार छड़ें हैं।

और ऐसे में दूर से एक अरथी सड़क पर चली आ रही है।

इस अरथी की खबर अखबार में है। मैंने अभी-अभी पढ़ी है। इसी मौत की खबर होगी। अखबार में छपा है—आज रात करोलबाग के मशहूर और लोकप्रिय बिजनेस मैगनेट सेठ दीवानचन्द की मौत इरविन अस्पताल में हो गयी। उनका शव कोठी पर ले आया गया है। कल सुबह नौ बजे उनकी अरथी आर्यसमाज रोड से होती हुई पंचकुइयाँ श्मशान-भूमि में दाह-संस्कार के लिए जायेगी।···

और इस वक़्त सड़क पर आती हुई यह अरथी उन्हीं की होगी। कुछ लोग टोपियाँ लगाये और मफ़लर बाँधे हुए खामोशी से पीछे-पीछे आ रहे हैं। उनकी चाल बहुत धीमी है। कुछ दिखाई पड़ रहा है, कुछ नहीं दिखाई पड़ रहा है, पर मुझे ऐसा लगता है अरथी के पीछे कुछ आदमी हैं।

मेरे दरवाज़े पर दस्तक होती है। मैं अखबार एक तरफ़ रखकर दरवाजा खोलता हूँ। अतुल भवानी सामने खड़ा है।

"यार, क्या मुसीबत है, आज कोई आयरन करने वाला भी नहीं आया, ज़रा अपना आयरन देना।" अतुल कहता है तो मुझे तसल्ली होती है। नहीं तो उसका चेहरा देखते ही मुझे खटका हुआ था कि कहीं शव-यात्रा में जाने का बवाल न खड़ा कर दे। मैं उसे फ़ौरन आयरन दे देता हूँ और निश्चिन्त हो जाता हूँ कि अतुल अब अपनी पैण्ट पर लोहा करेगा और दूतावासों के चक्कर काटने के लिए निकल जायेगा।

जब से मैंने अख़बार में सेठ दीवानचन्द की मौत की ख़बर पढ़ी थी,

मुझे हर क्षण यही खटका लगा था कि कहीं कोई आकर इस सर्दी में शव के साथ जाने की बात न कह दे। बिल्डिंग के सभी लोग उनसे परिचित थे और सभी शरीफ़, दुनियादार आदमी थे।

तभी सरदार जी का नौकर ज़ीने से भड़भड़ाता हुआ आया और दरवाज़ा खोलकर बाहर जाने लगा। अपने मन को और सहारा देने के लिए मैंने उसे पुकारा, "धर्मा ! कहाँ जा रहा है ?"

"सरदार जी के लिए मक्खन लेने," उसने वहीं से जवाब दिया तो लगे हाथों लपककर मैंने भी अपनी सिगरेट मँगवाने के लिए उसे पैसे थमा दिये।

सरदार जी नाश्ते के लिए मक्खन मँगवा रहे हैं, इसका मतलब है वे भी शव-यात्रा में शामिल नहीं हो रहे हैं। मुझे कुछ और राहत मिली। जब अतुल मवानी और सरदार जी का इरादा शव-यात्रा में जाने का नहीं है तो मेरा कोई सवाल ही नहीं उठता। इन दोनों का या वासवानी-परिवार का ही सेठ दीवानचन्द के यहाँ ज्यादा आना-जाना था। मेरी तो चार पाँच बार की मुलाकात-भर थी। अगर ये लोग ही शामिल नहीं रहे हैं तो मेरा सवाल ही नहीं उठता।

सामने बारजे पर मुझे मिसेज़ वासवानी दिखाई पड़ती है। उनके ख़ूबसूरत चेहरे पर अजीब-सी सफ़ेदी है और होंठों पर पिछली शाम की लिपस्टिक की हलकी लाली अभी भी मौजूद है। गाउन पहने हुए ही वह निकली हैं और अपना जूड़ा बाँध रही है। उनकी आवाज़ सुनाई पड़ती है, "डार्लिंग, ज़रा मुझे पेस्ट देना, प्लीज़···"

मुझे और राहत मिलती है। इसका मतलब है कि मिस्टर वासवानी भी मैयत में शामिल नहीं हो रहे हैं।

दूर आर्यसमाज रोड पर वह अरथी बहुत आहिस्ता-आहिस्ता बढ़ती आ रही है···

अतुल मवानी मुझे आयरन लौटाने आता है। मैं आयरन लेकर दरवाज़ा बन्द कर लेना चाहता हूँ, पर वह भीतर आकर खड़ा हो जाता है

और कहता है, "तुमने सुना, दीवानचन्द जी की कल मौत हो गयी ?"

"मैंने अभी अखबार में पढ़ा है," मैं सीधा-सा जवाब देता हूँ, ताकि मौत की बात आगे न बढ़े। अतुल मवानी के चेहरे पर सफ़ेदी झलक रही है, वह शेव कर चुका है। वह आगे कहता है, "बड़े भले आदमी थे दीवानचन्द।"

यह सुनकर मुझे लगता है कि अगर बात आगे बढ़ गयी तो अभी शव-यात्रा में शामिल होने की नैतिक ज़िम्मेदारी हो जायेगी, इसलिए मैं कहता हूँ, "तुम्हारे उस काम का क्या हुआ ?"

"बस, मशीन आने भर की देर है। आते ही अपना कमीशन तो खड़ा हो जायेगा। यह कमीशन का काम भी बड़ा बेहूदा है। पर किया क्या जाये ? आठ-दस मशीनें मेरे थ्रू निकल गयीं तो अपना बिज़नेस शुरू कर दूँगा।" अतुल मवानी कह रहा है, "भई, शुरू-शुरू में जब मैं यहाँ आया था तो दीवानचन्द जी ने बड़ी मदद की थी मेरी। उन्हीं की वजह से कुछ काम-धाम मिल गया था। लोग बहुत मानते थे उन्हें।"

फिर दीवानचन्द का नाम सुनते ही मेरे कान खड़े हो जाते हैं। तभी खिडकी से सरदार जी सिर निकालकर पूछने लगते हैं, "मिस्टर मवानी ! कितने बजे चलना है ?"

"वक्त तो नौ बजे का था, शायद सर्दी और कुहरे की वजह से कुछ देर हो जाये।" वह कह रहा है और मुझे लगता है कि यह बात शवयात्रा के बारे में ही है।

सरदार जी का नौकर धर्मा मुझे सिगरेट देकर जा चुका है और ऊपर मेज पर चाय लगा रहा है। तभी मिसेज वासवानी की आवाज सुनाई पड़ती है, "मेरे खयाल से प्रमिला वहाँ जरूर पहुँचेगी, क्यों डार्लिंग ?"

"पहुँचना तो चाहिए।...तुम ज़रा जल्दी से तैयार हो जाओ।" कहते हुए मिस्टर वासवानी बारजे से गुज़र गये हैं।

अतुल मुझसे पूछ रहा है, "शाम को कॉफ़ी-हाउस की तरफ़ आना होगा ?"

"शायद चला आऊँ," कहते हुए मैं कम्बल लपेट लेता हूँ और वह वापस अपने कमरे में चला जाता है। आधी मिनिट बाद ही उसकी आवाज़

फिर आती है, "भई विजली आ रही है ?"

मैं जवाब दे देता हूँ, "हाँ, आ रही है, मैं जानता हूँ कि वह इलक्ट्रिक रॉड से पानी गरम कर रहा है, इसीलिए उसने यह पूछा है।

"पॉलिश !" बूट-पॉलिशवाला लड़का हर रोज की तरह अदब से आवाज़ लगाता है और सरदार जी उसे ऊपर पुकार लेते हैं। लड़का बाहर बैठकर पॉलिश करने लगता है और वह अपने नौकर को हिदायतें दे रहे हैं, खाना ठीक एक बजे लेकर आना।···पापड़ भूनकर लाना और सलाद भी बना लेना।···"

मैं जानता हूँ, सरदार जी का नौकर पाजी है। वह कभी वक़्त से खाना नहीं पहुँचाता और न उनके मन की चीज़ें ही पकाता है।

बाहर सड़क पर कुहरा अब भी घना है। सूरज की किरणों का पता नहीं है। कुलचे-छोलेवाले वैष्णव ने अपनी रेढ़ी लाकर खड़ी कर ली है। रोज की तरह वह प्लेटें सजा रहा है, उनकी खनखनाहट की आवाज़ आ रही है।

सात नम्बर की बस छूट रही है। सूलियों पर लटके ईसा उसमे चले जा रहे हैं और क्यू में खड़े और लोगों को कण्डक्टर पेशगी टिकिट बाँट रहा है। हर बार जब भी वह पैसे वापस करता है तो रेज़गारी की खनक यहाँ तक आती है। धुन्ध में लिपटी रूहों के बीच काली वरदी वाला कण्डक्टर शैतान की तरह लग रहा है।

और अरथी अब कुछ और पास आ गयी है।

"नीली साड़ी पहन लूं ?" मिसेज़ वासवानी पूछ रही है।

वासवानी के जवाब देने की घुटी-घुटी आवाज़ से लग रहा है कि वह टाई की नॉट ठीक कर रहा है।

सरदार जी के नौकर ने उनका सूट ब्रुश से साफ़ करके हैंगर पर लटका दिया है। और सरदार जी शीशे के सामने खड़े पगड़ी बाँध रहे हैं।

अतुल मवानी फिर मेरे सामने से निकला है। पोर्ट फ़ोलियो उसके हाथ में है। पिछले महीने बनवाया हुआ सूट उसने पहन रखा है। उसके

और कहता है, "तुमने सुना, दीवानचन्द जी की कल मौत हो गयी ?"

"मैंने अभी अखबार मे पढा है," मैं सीधा-सा जवाब देता हूँ, ताकि मौत की बात आगे न बढ़े। अतुल मवानी के चेहरे पर सफेदी झलक रही है, वह शेव कर चुका है। वह आगे कहता है, "बड़े भले आदमी थे दीवानचन्द।"

यह सुनकर मुझे लगता है कि अगर बात आगे बढ़ गयी तो अभी शव-यात्रा मे शामिल होने की नैतिक जिम्मेदारी हो जायेगी, इसलिए मैं कहता हूँ, "तुम्हारे उस काम का क्या हुआ ?"

"बस, मशीन आने भर की देर है। आते ही अपना कमीशन तो खड़ा हो जायेगा। यह कमीशन का काम भी बड़ा बेहूदा है। पर किया क्या जाये ? आठ-दस मशीनें मेरे थ्रू निकल गयी तो अपना बिजनेस शुरू कर दूँगा।" अतुल मवानी कह रहा है, "भई, शुरू-शुरू मे जब मैं यहाँ आया था तो दीवानचन्द जी ने बडी मदद की थी मेरी। उन्ही की वजह से कुछ काम-धाम मिल गया था। लोग बहुत मानते थे उन्हें।"

फिर दीवानचन्द का नाम सुनते ही मेरे कान खड़े हो जाते हैं। तभी खिड़की से सरदार जी सिर निकालकर पूछने लगते हैं, "मिस्टर मवानी ! कितने बजे चलना है ?"

"वक्त तो नौ बजे का था, शायद सर्दी और कुहरे की वजह से कुछ देर हो जाये।" वह कह रहा है और मुझे लगता है कि यह बात शवयात्रा के बारे मे ही है।

सरदार जी का नौकर धर्मा मुझे सिगरेट देकर जा चुका है और ऊपर मेज़ पर चाय लगा रहा है। तभी मिसेज वासवानी की आवाज़ सुनाई पड़ती है, "मेरे खयाल से प्रमिला वहाँ जरूर पहुँचेगी, क्यों डार्लिंग ?"

"पहुँचना तो चाहिए।...तुम जरा जल्दी से तैयार हो जाओ।" कहते हुए मिस्टर वासवानी बारजे से गुज़र गये है।

अतुल मुझसे पूछ रहा है, "शाम को कॉफ़ी-हाउस की तरफ़ आना होगा ?"

"शायद चला आऊँ," कहते हुए मैं कम्बल लपेट लेता हूँ और वह वापस अपने कमरे मे चला जाता है। आधी मिनिट बाद ही उसकी आवाज़

फिर आती है, "भई विजली आ रही है?"

मैं जवाब दे देता हूँ, "हाँ, आ रही है, मैं जानता हूँ कि वह इलक्ट्रिक रॉड से पानी गरम कर रहा है, इसीलिए उसने यह पूछा है।

"पॉलिश !" बूट-पॉलिशवाला लड़का हर रोज़ की तरह अदब से आवाज लगाता है और सरदार जी उसे ऊपर पुकार लेते हैं। लड़का बाहर बैठकर पॉलिश करने लगता है और वह अपने नौकर को हिदायतें दे रहे है, खाना ठीक एक बजे लेकर आना।···पापड़ भूनकर लाना और सलाद भी बना लेना।···"

मैं जानता हूँ, सरदार जी का नौकर पाजी है। वह कभी वक़्त से खाना नहीं पहुँचाता और न उनके मन की चीज़ें ही पकाता है।

बाहर सडक पर कुहरा अब भी घना है। सूरज की किरणों का पता नहीं है। कुलचे-छोलेवाले वैष्णव ने अपनी रेढी लाकर खड़ी कर ली है। रोज़ की तरह वह प्लेटें सजा रहा है, उनकी खनखनाहट की आवाज़ आ रही है।

सात नम्बर की बस छूट रही है। सूलियों पर लटके ईसा उसमें चले जा रहे हैं और क्यू में खड़े और लोगों को कण्डक्टर पेशगी टिकिट बाँट रहा है। हर बार जब भी वह पैसे वापस करता है तो रेज़गारी की खनक यहाँ तक आती है। धुन्ध मे लिपटी रूहों के बीच काली वरदी वाला कण्डक्टर शैतान की तरह लग रहा है।

और अरथी अब कुछ और पास आ गयी है।

"नीली साडी पहन लूं ?" मिसेज़ वासवानी पूछ रही है।

वासवानी के जवाब देने की घुटी-घुटी आवाज़ से लग रहा है कि वह टाई की नॉट ठीक कर रहा है।

सरदार जी के नौकर ने उनका सूट ब्रुश से साफ करके हैंगर पर लटका दिया है। और सरदार जी शीशे के सामने खड़े पगड़ी बाँध रहे हैं।

अतुल मवानी फिर मेरे सामने से निकला है। पोर्टफ़ोलियो उसके हाथ में है। पिछले महीने बनवाया हुआ सूट उसने पहन रखा है। उसके

चेहरे पर ताजगी है और जूतों पर चमक। आते ही वह मुझसे पूछता है, "तुम नही चल रहे हो?" और मैं जब तक पूछूं कि कहाँ चलने को वह पूछ रहा है कि वह सरदारजी को आवाज़ लगाता है, "आइए, सरदारजी! अब देर हो रही है। दस बज चुका है।"

दो मिनिट बाद ही सरदार जी तैयार होकर नीचे आते हैं कि वासवानी ऊपर से ही मवानी का सूट देखकर पूछता है, "ये सूट किधर सिलवाया?"

"उधर खान मार्केट मे।"

"बहुत अच्छा सिला है। टेलर का पता हमे भी देना।" फिर वह अपनी मिसेज को पुकारता है, "अब आ जाओ, डियर!···अच्छा मैं नीचे खडा हूँ तुम आओ।" कहता हुआ वह भी मवानी और सरदार जी के पास आ जाता है और सूट को हाथ लगाते हुए पूछता है, "लाइनिंग इण्डियन है।"

"इंग्लिश!"

"बहुत अच्छा फिटिंग है!" कहते हुए वह टेलर का पता डायरी में नोट करता है। मिसेज़ वासवानी बारजे पर दिखाई पड़ती है—नम और सर्द सुबह मे उनका रूप और भी निखर आया है। सरदार जी धीरे से मवानी को आँख का इशारा करके सीटी बजाने लगते हैं।

अरथी अब सडक पर ठीक मेरे कमरे के नीचे है। उसके साथ कुछेक आदमी है, एक-दो कारें भी है, जो धीरे-धीरे रेंग रही है। लोग बातों में मशगूल है।

मिसेज़ वासवानी जूडे मे फूल लगाते हुए नीचे उतरती है तो सरदारजी अपनी जेब का रूमाल ठीक करने लगते हैं। और इससे पहले कि वे लोग बाहर जायें वासवानी मुझसे पूछता है, "आप नही चल रहे?"

"आप चलिए, मैं आ रहा हूँ," मैं कहता हूँ पर दूसरे ही क्षण मुझे लगता है कि उसने मुझसे कहाँ चलने को कहा है? मैं अभी खड़ा सोच ही रहा हूँ कि वे चारों घर के बाहर हो जाते है।

अरथी कुछ और आगे निकल गयी है। एक कार पीछे से आती है और अरथी के पास धीमी होती है। चलाने वाले साहब शव-यात्रा मे पैदल चलने वाले एक आदमी से कुछ बात करते है और कार सर्र से आगे बढ जाती है। अरथी के साथ पीछे जाने वाली दोनो कारे भी उसी कार के पीछे सरसराती हुई चली जाती है।

मिसेज़ वासवानी और वे तीनों लोग टैक्सी-स्टैण्ड की ओर जा रहे है। मैं उन्हें देखता रहता हूँ। मिसेज वासवानी से फर-कालर डाल रखा है और शायद सरदार जी अपने चमड़े के दास्ताने उन्हे दे रहे हैं या दिखा रहे है। टैक्सी-ड्राइवर आगे बढकर दरवाज़ा खोलता है और वे चारो टैक्सी मे बैठ जाते है। अब टैक्सी इधर ही आ रही है और उसमे से खिलखिलाने की आवाज़ मुझे सुनाई पड रही है। वासवानी आगे सड़क पर जाता अरथी की ओर इशारा करते हुए ड्राइवर को कुछ बता रहा है।···

मैं चुपचाप खडा सब देख रहा हूँ और अब न जाने क्यो मुझे मन मे लग रहा है कि दीवानचन्द की शव-यात्रा मे कम से कम मुझे तो शामिल हो ही जाना चाहिए था। उनके लडके से मेरी खासी जान-पहचान है और ऐसे मौके पर तो दुश्मन का साथ भी दिया जाता है। सर्दी की वजह से मेरी हिम्मत छूट रही है···पर मन मे कही शव-यात्रा मे शामिल होने की बात भीतर-ही-भीतर कोंच रही है।

उन चारों की टैक्सी अरथी के पास धीमी होती है। भवानी गरदन निकालकर कुछ कहता है और दाहिने से रास्ता काटते हुए टैक्सी आगे बढ़ जाती है।

मुझे धक्का-सा लगता है और मैं ओवरकोट पहनकर, चप्पले डालकर नीचे उतर आता हूँ। मुझे मेरे कदम अपने-आप अरथी के पास पहुँचा देते है और मैं चुपचाप उसके पीछे-पीछे चलने लगता हूँ। चार आदमी कन्धा दिये हुए हैं और सात आदमी साथ चल रहे हैं—सातवाँ मैं ही हूँ। और मैं सोच रहा हूँ कि आदमी के मरते ही कितना फर्क पड़ जाता है! पिछले साल ही दीवानचन्द ने अपनी लडकी की शादी की थी तो हज़ारों की भीड़ थी। कोठी के बाहर कारो की लाइन लगी हुई थी···

मैं अरथी के साथ-साथ लिंक रोड पर पहुँच चुका हूँ। अगले मोड पर

ही पंचकुइयां श्मशान-भूमि है।

और जैसे ही अरथी मोड पर घूमती है लोगों की भीड़ और कारों की कतार मुझे दिखाई देने लगती है। कुछ स्कूटर भी खड़े हैं। औरतों की भीड एक तरफ खडी है। उनकी बातों की ऊँची ध्वनियां सुनाई पड रही हैं। उनके खड़े होने मे वही लचक है जो कनॉटप्लेस में दिखाई पड़ती है। सभी के जूडों के स्टाइल अलग-अलग हैं। मरदों की भीड़ से सिगरेट का धुआं उठ-उठकर कुहरे में घुला जा रहा है और बात करती हुई औरतों के लाल-लाल होंठ और सफेद दांत चमक रहे हैं और उनकी आंखों मे एक गरूर है···

अरथी को बाहर बने चबूतरे पर रख दिया गया है। अब खामोशी छा गयी है। इधर-उधर बिखरी हुई भीड़ शिव के इर्द-गिर्द जमा हो गयी है और कारों के शोफ़र हाथों में फूलों के गुलदस्ते और मालाएँ लिये अपनी मालकिनों की नजरों का इन्तजार कर रहे हैं।

मेरी नजर वासवानी पर पड़ती है। वह अपनी मिसेज को आँख के इशारे से शव के पास जाने को कह रहा है और वह है कि एक औरत के साथ खडी बात कर रही है। सरदार जी और अतुल मवानी भी वहीं खड़े हुए हैं।

शव का मुंह खोल दिया गया है और अब औरतें फूल और मालाएँ उसके इर्द-गिर्द रखती जा रही हैं। शोफर खाली होकर अब कारों के पास खडे सिगरेट पी रहे हैं।

एक महिला माला रखकर कोट की जेब से रूमाल निकालती है और आँखों पर रखकर नाक सुरसुराने लगती है और पीछे हट आती है।

और अब सभी औरतों ने रूमाल निकाल लिये है और उनकी नाकों से आवाजें आ रही हैं।

कुछ आदमियों ने अगरबत्तियां जलाकर शव के सिरहाने रख दी है। वे निश्चल खड़े है।

आवाज़ों से लग रहा है कि औरतों के दिल को ज्यादा सदमा पहुँचा है।

अतुल मवानी अपने पोर्टफोलियो से कोई कागज निकालकर वासवानी

वानी को दिखा रहा है। मेरे खयाल से वह पासपोर्ट का फ़ॉर्म है।

अब शव को भीतर श्मशान-भूमि मे ले जाया जा रहा है। भीड फाटक के वाहर खडी देख रही है। शोफ़रो ने सिगरेटें या तो पी ली है या बुझा दी है और वे अपनी-अपनी कारों के पास तैनात हैं।

शव अब भीतर पहुँच चुका है।

मातमपुरसी के लिए आये हुए आदमी और औरतें अब वाहर की तरफ लौट रहे हैं।

कारों के दरवाजे खुलने और बन्द होने की आवाज़ें आ रही है। स्कूटर स्टार्ट हो रहे है और कुछ लोग रीडिंग रोड, वस-स्टाप की ओर बढ रहे है।

कुहरा अभी भी घना है। सडक से बसें गुज़र रही है और मिसेज़ वासवानी कह रही हैं, "प्रमिला ने शाम को बुलाया है, चलोगे न, डियर? कार आ जायेगी। ठीक है न?"

वासवानी स्वीकृति में सिर हिला रहा है।

कारों में जाती हुई औरतें मुसकराते हुए एक-दूसरे से विदा ले रही है और वाई-वाई की कुछ-एक आवाज़ें आ रही है। कारें स्टार्ट होकर जा रही है।

अतुल मवानी और सरदार जी भी रीडिंग रोड, वस-स्टाप की ओर बढ़ गये है और मैं खड़ा सोच रहा हूँ कि अगर मैं भी तैयार होकर आया होता तो यही से सीधा काम पर निकल जाता। लेकिन अब तो साढ़े ग्यारह वज चुके हैं।

चिता मे आग लगा दी गयी है और चार-पांच आदमी पेड के नीचे पडी वेंच पर बैठे हुए हैं। मेरी तरह वे भी यूं ही चले आये हैं। उन्होंने जरूर छुट्टी ले रखी होगी, नही तो वे भी तैयार होकर आते।

मेरी समझ मे नही आ रहा है कि घर जाकर तैयार होकर दफ़्तर जाऊं या अब एक मौत का वहाना वनाकर आज की छुट्टी ले लूं—आखिर मौत तो हुई ही है और मैं शव-यात्रा में शामिल भी हुआ हूँ।

एक थी विमला

पहला मकान— यानी विमला का घर।

इस घर की ओर हर नौजवान की आँखें उठती है। घर के अन्दर चहारदीवारी है और उसके बाद है पटरी। फिर सडक है, जिसे रोहतक रोड के नाम से जाना जाता है। अगर दिल्ली बस सर्विस की भाषा में कहे, तो इसका नाम है—रूट नम्बर सत्ताईस। सत्ताईस नम्बर की बस यही से गुज़रती है और विमला के घर के ठीक सामने तो नहीं, बायी ओर कुछ हटकर बस-स्टॉप है। बस-स्टॉप पर बहुत चहल-पहल रहती है। वहाँ खड़े होने वाले लोग और नौजवान उस सामने वाले घर को आसानी से देख सकते है। यह मकान विमला का है, यानी विमला इसमे रहती है, वैसे बाहर खम्भे पर उसके बाप दीवानचन्द के नाम की तख़्ती लटक रही है।

विमला की तरफ सभी की आँखें है। ख़ास तौर से उन नौजवानों और युवक दुकानदारों की, जो वही आस-पास रहते हैं। विमला गर्ल्स पब्लिक कॉलेज मे पढने जाती है। देखने में सुन्दर है और उसकी उम्र यही करीब बीस साल की है। जब वह घर के पास बस-स्टॉप पर उतरती है, तो उसके साथ नौजवानो का एक हुजूम भी उतरता है। पर वह किसी की परवाह नही करती और सीधी अपने घर मे चली जाती है।

उसके वापस आने का वक्त करीब दो बजे होता है। उस वक़्त बस-स्टॉप के पास सामने की दूकानो के नौजवान मालिक भी जमा हो जाते है। सब आँखें विमला को देखती हैं, उसका पीछा करती हैं, पर वह अपने मे मगन सडक पार कर जाती है।

लोगो का कहना है कि उसने कभी नजर उठाकर किसी को नही देखा। एक दिन बस से उतरते हुए उसकी साडी चप्पल में उलझ गयी थी और झटके से सब किताबें और कापियाँ बिखर गयी थी। इन्तजार में खड़े नौजवानो ने फौरन एक-एक किताब उठाकर उसके हाथों मे थमा दी थी और उसकी नजरो से कुछ पाने की तमन्ना की थी। खास तौर से एक नौजवान ने वडी सज्जनता से आगे बढकर पूछा था, "आपके चोट तो नही आयी"।

"जी, नही···" विमला ने बहुत शालीनता से कहा था और अपनी किताबें लेकर चली गयी थी। दूसरे दिन वही नौजवान खास तौर से विमला के सामने पडने के लिए बजे से बस-स्टॉप पर खड़ा था। आखिर एक बस से विमला उतरी···पहचान को और गहरा बनाने के लिए उस नौजवान ने बढकर उससे बात करनी चाही, पर विमला चुपचाप सकुचाती सड़क पार कर गयी।

बहुत दिनो से यही हो रहा है। पर विमला है कि उसमे जैसे कोई ज्वार ही नही उठता। अगर उठता भी है, तो वह बहुत शालीनता और सफ़ाई से उसे दबा जाती है। किसी ने भी उसे अनजान आदमियों के साथ आते हुए नही देखा, बात करते हुए नही देखा।

विमला का बाप बहुत पैसे वाला भी नही। वह किसी प्राइवेट फ़र्म में काम करता है और अपने घर का भार उठाये उम्र काटता जा रहा है। हाँ, विमला को यह अहसास हर वक़्त रहता है कि उसका बाप है, और वह बहुत समझदार व मेहनती आदमी है। अपने बाप के संघर्ष को वह जानती है, घर की खस्ता हालत भी उससे छिपी नही है, पर वह यह भी जानती है कि बाप के रहते उसे कोई दुःख नही हो सकता। पढ़ाई खत्म करने के बाद वह कही नौकरी करेगी, छोटे भाइयों को पढायेगी और अगर कोई अच्छा-सा नौजवान मिल गया तो बाद में उससे शादी कर लेगी।

इस पहले मकान के आस-पास रहने वाले सभी लोगों की यह पक्की राय है कि विमला एक निहायत सुशील और सुसंस्कृत लड़की है। उनकी जबानों पर सिर्फ़ उसकी तारीफ है।

विमला के बाप दीवानचन्द का कहना है कि वे सिर्फ़ विमला की पढ़ाई ख़त्म होने का इन्तज़ार कर रहे हैं। जिस दिन उसने बी० ए० पास किया, वे किसी बहुत अच्छे नौजवान से उसकी शादी कर देंगे। अगर विमला कहीं ख़ुद शादी करना चाहती है, तो भी उन्हें कोई इनकार न होगा, शर्त एक ही है कि लड़का अच्छे घराने का और अच्छी नौकरी या कारबार में लगा हुआ होना चाहिए।

विमला के घर की तरह शायद हजारों घर हैं और उसकी तरह की लाखों लड़कियाँ भी हैं। उतनी ही सुन्दर, सुशील और समझदार। हर लड़की पढ़ रही है और अपने घर के ख़स्ता हाल से परिचित है, अपने बाप-भाइयों के संघर्ष की जानकारी उसे है। हर लड़की अपने घर को और अच्छा बनाना चाहती है। हर लड़की यह भी चाहती है कि कोई उसकी तरफ उँगली न उठा सके। सब लोग उसके बारे में बहुत अच्छी-अच्छी बातें सोचें। उसकी ख़ूबसूरती को सराहें और गुणों की प्रशंसा करें। वह अपने घर की इज्ज़त का जीता-जागता नमूना बने और बाप-भाइयों की नाक उसकी वजह से ऊँची रहे।

शादी के बाद सब जानने वालों को यह सन्तोष हो कि उसका पति बहुत इज्ज़तदार, ओहदेदार, और शानदार आदमी है, और वह शादी के बाद भी अपने भाई-बहनों की प्यारी बनी रहे, उनकी मदद कर सके और घर में गौरव प्राप्त करे।

पहले मकान में रहने वाली विमला भी यही चाहती थी और जो वह चाहती थी, वह सब उसके सामने पूरा भी होता जा रहा था। उम्मीद भी यही है कि उसके सब सपने साकार हो जायेंगे, क्योंकि जो कुछ वह चाहती है, वह पा लेना बहुत मुश्किल भी नहीं है।

और उस पहले मकान—यानी विमला के घर की यह कहानी यहीं ख़त्म हो जाती है, क्योंकि अभी इससे आगे कुछ हुआ नहीं है। इस तारीख़ तक घटनाएँ यहीं तक पहुँची हैं।

इसलिए यह बात यहीं पर ख़त्म होती है।

परमात्मा करे सबको विमला जैसी सुशील और समझदार लड़की मिले और किसी की नाक नीची न हो ! क्योंकि दुनिया यही चाहती है।

दूसरा मकान—यानी कुन्ती का घर।

विमला के घर से यह मकान काफी दूरी पर है। यों देखने पर विमला और कुन्ती का कोई सम्बन्ध भी नहीं है। पर न जाने क्यों उसमें विमला की झलक-सी दिखाई पड़ती है। विमला कुन्ती को नहीं जानती और न कुन्ती उसे। यह भी ज़रूरी नहीं है कि जो लोग विमला को जानते है, वे कुन्ती को जानते ही हो। बहुत-से ऐसे लोग हैं जो कुन्ती को क़तई नहीं जानते। इत्तफ़ाक़ की बात यह है कि कुन्ती का मकान भी इसी सड़क पर है। मकान क्या, एक कमरा कह लीजिए। कई साल पहले पूरा मकान-कुन्ती के बाप के पास किराये पर था, पर धीरे-धीरे कुन्ती के बाप मनोहर लाल का हाथ तंग होता गया और मकान के कमरे किराये पर चढ़ते गये। उनके मकान के फ़ाटक पर भी पहले उनके नाम की तख़्ती रहती थी, पर फिर उस पर बाक़ी किरायेदारों के नामों की तख़्तियाँ लटक गयीं और मकान में हिस्सेदारी के अनुपात का सम्मान करते हुए फ़ाटक पर औरों का हक़ हो गया। मनोहरलाल की तख़्ती वहाँ से उठकर कमरे की दीवार पर चली गयी।

जिस वक़्त वह तख़्ती कमरे की दीवार पर पहुँची, उस वक़्त मनोहर-लाल की हालत बहुत ख़स्ता थी। नौकरी करने के बावजूद ख़र्चे का पूरा नहीं पड़ता था। क़र्ज़ा भी सिर पर चढ़ता जा रहा था। कुन्ती से बड़ा एक लड़का था तो ज़रूर, पर वह शादी के बाद अलग हो गया था। उसने सभी सम्बन्ध तोड़ लिये थे। घर से उसका कोई वास्ता नहीं रह गया था। अब घर के पाँच बच्चों मे सबसे बड़ी कुन्ती ही है। एक छोटी बहन और तीन भाई और हैं। एक दिन दिल का दौरा पड़ने से मनोहरलाल की मौत हो गयी। उस वक़्त कुन्ती इन्टर में पढ़ रही थी। मनोहरलाल के मरने के बाद घर की देखभाल और ख़र्चे का पूरा भार कुन्ती पर ही आ पड़ा था।

दीवार पर लगी हुई तख्ती उतार कर अपनी पुरानी चीजो वाले बक्से मे आदर से रख दी गयी थी, क्योंकि जब-जब कुन्ती बाहर से आती थी, वह तख्ती देखकर उसकी आँखें भर आती थी।

मरने से पहले मनोहरलाल को यही सन्तोष था कि कुन्ती जैसी सुशील समझदार लडकी कम से कम इस जमाने मे मिलना बहुत मुश्किल थी। वे यही सोचते थे कि कुन्ती के बी० ए० पास करते ही उसकी शादी किसी बहुत अच्छे नौजवान से कर देंगे। ऐसे नौजवान से, जिसका खानदान भी ऊँचा हो और जो खुद ऊँची जगह पर हो। अगर कुन्ती चाहेगी, तो वे उसकी पसन्द के लड़के के लिए तैयार हो जायेगे, क्योंकि उन्हें सिर्फ़ कुन्ती की खुशी चाहिए थी···

बहरहाल उन्होंने न जाने क्या-क्या सोचा होगा और कुन्ती ने क्या-क्या मन मे तय किया होगा।

जहाँ से हम उसे जानते हैं, वहाँ से सिर्फ़ इतना ही बता सकते है कि वह इस वक्त एक नर्सरी स्कूल मे मास्टरनी है, जहाँ से उसे सौ रुपये तनख्वाह के रूप मे मिलते हैं, जिससे छोटे भाई-बहनो की पढाई का पूरा ख़र्चा भी नही निकलता। नर्सरी स्कूल से लौटने पर वह किसी जगह ट्यूशन के लिए भी जाती है। वह संघर्षों के बीच से गुजर रही है और अपने घर की इज्जत को बचाये रखने का भरसक प्रयास कर रही है। जैसे-तैसे वह सारा सामान मुहैया करती है। चीटी की तरह हर वक़्त चुपचाप काम और प्रयास मे लगी रहती है।

उसी के घर के पास एक सर्राफे की दूकान है और खराद का काम करने वाले सरदार का कारख़ाना। असल मे वह ख़राद का कारखाना भी उसी सर्राफे का है। उसमे काम करने वाला सरदार उसका नौकर है। उस कारख़ाने मे तमाम पुरानी चीज़ें भरी हुई हैं। अण्ट-सण्ट तरीके से बोरे भरे हुए हैं, जिनमे पुराना सामान है। सर्राफे की यह दूकान गरीबों को बहुत सहारा देती है। पिछले पाँच बरस से कुन्ती अपनी परिस्थितियों से लडती आ रही है, लेकिन कैसे—यह शायद किसी को नही मालूम।

बलवन्तराय सर्राफ की दूकान में शीशे की अलमारियाँ है, जिनमे चाँदी-काँसे का जेवर सजा हुआ है। एक सेफ दीवार मे गड़ी हुई है, जिसमे

उसके कहने के मुताबिक़ सोने का सामान और क़ीमती पत्थर-मोती वग़ैरह बन्द है। बलवन्तराय है तो सर्राफ, पर उसके कितने कारोबार है, इसका ठीक-ठीक पता किसी को नही है। पुराना सामान भी ख़रीदता है और नये का व्यापार भी करता है। वह वह नये-से-नये फ़ैशन के कपड़े पहनता है, पर पेट ज्यादा निकला होने के कारण हर कपड़ा उसके ऊपर बहुत बेडौल लगता है। वह लोगों की मुसीबत-परेशानी मे काम आता है।

इस दूसरे मकान—यानी कुन्ती के घर से बस-स्टॉप ज़रा दूर पर है। वहाँ से वह पैदल घर तक आती है। कुन्ती की उम्र भी क़रीब बीस-बाईस साल है और देखने मे वह भी बहुत सुन्दर और सुडौल है। बलवन्तराय की दूकान और खराद के कारखाने के सामने से वह रोज गुज़रती है। बलवन्तराय उसे रोज देखता है, बल्कि वह इसीलिए खाना खाने देर से जाता है कि जरा एक नज़र कुन्ती को देख ले। लेकिन थोड़ी-सी जान-पहचान के बावजूद कुन्ती न तो उधर देखती ही है और न उसका ख़याल ही करती है।

बलवन्तराय और कुन्ती की जान-पहचान सिर्फ़ एक दूकानदार और ग्राहक की जान-पहचान की तरह है। एक बार जब उसे पैसो की बहुत सख़्त ज़रूरत पड़ी थी, तो वह माँ की सोने की माला बेचने के लिए दबे पाँव उसकी दूकान तक पहुँची थी। बलवन्तराय ने एक कुशल दूकानदार की तरह उसकी बहुत आवभगत की थी और मुसकरा-मुसकराकर हर बात बतायी थी। परन्तु कुन्ती सिर्फ़ माला बेचने आयी थी और दूकानदार की अतिरिक्त सज्जनता और नम्रता की तरफ ध्यान देने की कोई ज़रूरत उसने नही समझी थी।

माला खरीद लेने के बाद बलवन्तराय उस एक दिन की जान-पहचान को और गहरा बनाने के लिए हर तरह की कोशिशों मे लगा हुआ था। कुन्ती के लौटने के समय वह उँगलियों में क़ीमती मोतियों की चार अँगूठियाँ पहनकर दूकान के बाहर पटरी पर खड़ा होता था। कुन्ती हमेशा उसी पटरी से सिर झुकाये गुज़र जाती थी।

कुछ ही दिन बाद कुन्ती फिर शाम के धुँधलके में उसकी दूकान पर आयी थी और माँ की पुरानी क़ीमती साड़ी की सोने के काम वाली किनारी

और पल्लू के फटे हुए टुकड़े बेच गयी थी। जान-पहचान फिर भी वहीं रुकी हुई थी। बलवन्तराय की दुकान और कारख़ाने में कुन्ती के घर की बहुत-सी चीज़ें पहुँच चुकी थीं। कुछ पुराने भारी-भारी बरतनों को ख़राद चढ़ाकर और नया बनाकर वह बेच भी चुका था। गिलट और पीतल के गुलदस्ते भी वह खरीद चुका था, पर जो वह चाहता था, वह नहीं हुआ था। कुन्ती से उसने हर बार बातें की थीं, पर उसकी बातों में कहीं कुछ भी ऐसा नहीं था कि बलवन्तराय कोई मतलब निकाल सकता। कुन्ती से घर की तमाम पुरानी और इस्तेमाल की हुई चीज़ें ख़रीदने के बाद भी दूरी उतनी ही बनी हुई थी। वह हर बार कोई-न-कोई शिष्ट मज़ाक़ करता और चाहता कि कुन्ती कम-से-कम एक बार मुसकराकर उसकी बात का जवाब तो दे दे, पर कुन्ती विमला की ही तरह कभी मुसकरायी नहीं। उसने हमेशा सीधी-सीधी बातें कीं, चीज़ दी और कम-ज्यादा जो भी पैसा मिला, लेकर चली गयी।

बलवन्तराय ने हमेशा यही ज़ाहिर किया कि वह न सिर्फ़ कीमती से ज्यादा पैसा ही देता है, बल्कि उन चीज़ों को भी खरीद लेता है, जो उसके काम की नहीं हैं, जैसे चश्मे का पीतल का पुराना फ्रेम, पूजा के छोटे-छोटे बरतन और पुरानी टूटी हुई पतीलियाँ।

कुन्ती भी मन-ही-मन उसकी बहुत कृतज्ञ थी। लेकिन मुसकराकर बात करने का सवाल कभी नहीं उठा था, क्योंकि जिन्दगी के भारू होते जाने के बावजूद तब तक वह गाड़ी खींच रही थी। कुछ ऐसी आशाएँ बाकी थीं, जिन्हें वह सँजोकर रखना चाहती थी और कुछ ऐसे सपने भी शेष थे, जिनके साकार होने की उम्मीद उसे थी। अभी ख़ुशियों के कुछ अहसास बाकी थे, जो उसे मुसकराने नहीं देते थे। वह अपनी मुसकराहटों को बचाकर रखना चाहती थी···उस दिन के लिए, जबकि वे ख़ुशियाँ वापस आयेंगी। उसके छोटे-छोटे भाई बड़े होंगे और घर का नक़्शा बदलेगा।

आखिर वह दिन आ ही गया, जबकि उसकी मुसकराहट होंठों पर आ गयी। वह दिन बेहद ख़ुशनुमा था। बरसात का मौसम था। आसमान में काले-काले बादल छाये हुए थे। भीगी-भीगी हवा चल रही थी। दूर से आती हवाओं के साथ मेंहदी के फूलों की महक आ रही थी।

रह-रहकर बूंदीबांदी हो जाती थी। पेड़ धुलकर नये हो गये थे। सड़कें साफ़ हो गयी थी।

उस वक़्त शाम के सात बज रहे थे। सूरज डूब चुका था, पर दिन अभी कुछ-कुछ बाकी था। कुन्ती के घर में अजीब-सा सन्नाटा छाया हुआ था। माँ को दो दिन पहले बेहोशी का दौरा पड़ा था। घर में इलाज कराने के लिए पाई नहीं थी, इसलिए वह ज़नाने अस्पताल में पड़ी हुई थी। उसे देखने जाने और तीमारदारी में सब पैसे खत्म हो चुके थे। तीनों भाई और अकेली बहन समझदार और नेक बच्चों की तरह चुपचाप अधपेट खाये बैठे हुए थे। किसी के चेहरे पर कोई शिकायत नहीं थी।

कुन्ती एक तरफ़ बैठी हुई बारी-बारी से सब चीज़ों पर निगाह डाल रही थी। लेकिन अब घर में कोई भी ऐसा सामान नहीं था, जो बेचा जा सके या बिक सके। तसवीरों के लकड़ी के फ्रेम बिक नहीं सकते, तवा और आख़िरी पतीली बेची नहीं जा सकती। और दो-दो चार-चार आने में दो-तीन चीज़ें बिक भी जायें, तो कुछ भी हासिल नहीं होता था।

मौसम बहुत सुहावना था। हर तरफ़ से जैसे ख़ुशियाँ फूट पड़ रही थी···पेड़ों पर अजीब-सी ताज़गी छायी हुई थी। और ऐसे ख़ुशनुमा वक़्त में कुन्ती की आँखें रह-रहकर भर आती थी। दिल में अजीब-सी हूक उठती। भाई-बहनों के मासूम चेहरों की तरफ़ जब वह देखती थी तो मन बैठने लगता था और आँसू नहीं थमते थे।

आख़िर वह कमरे के बाहर आकर खड़ी हो गयी। कुछ देर पसोपेश में रही, फिर भीतर जाकर उसने कपड़े बदले, अपने बाल ठीक किये और छोटी बहन को समझाकर कि वह अभी आ रही है, वह बाहर निकल आयी। उसकी चाल में कोई संकोच नहीं था। मन अजीब-सी मजबूरी की अनुभूति और हिचक से भरा हुआ था।

और वह हमेशा की तरह फिर बलवन्तराय की दूकान पर खड़ी थी। शाम गहरी हो गयी थी। आज वह दिन आ गया था, जब उसका मन बहुत भारी था और दुखों के बोझ से हलकी-सी मुसकराहट होंठों पर उतर आयी थी।

बलवन्तराय ने वह मुसकराहट देखी तो सहसा विश्वास नहीं कर

पाया। हकलाते हुए बोला, "आइए, आइए···वहाँ क्यों रुक गयी ?"

कुन्ती भीतर चली गयी। एकाध ग्राहक और बैठे हुए थे। कुन्ती हमेशा की तरह बेंच पर बैठ गयी। बलवन्तराय ने ग्राहकों को जल्दी से निपटाकर विदा किया और कुन्ती को देखा, तो उसे सिर्फ वह मुसकराहट ही नज़र आयी। इतने दिनों का परिचय सहज सम्मान का रूप ले चुका था। बलवन्तराय ने धीरे से कहा, "कहिए, क्या सेवा करूँ ?"

बहुत सकुचाते और हिचकते हुए कुन्ती ने मुसकराने की फिर कोशिश की। उसके होठों पर मुसकराहट की लकीर खिंच गयी और वह नीची निगाह करके बोली, "आज असल में हमें बीस रुपये की सख़्त जरूरत थी, चीज़ तो कोई ला नहीं पायी···वह बात यह थी कि···"

बलवन्तराय ने और कुछ जानना जरूरी भी नहीं समझा। कुन्ती के घर की हालत का पता उसे था और उसके मन में मदद करने की बात भी थी। उसने फौरन बीस रुपये आगे बढ़ा दिये, तो बहुत संकोच से लेते हुए कुन्ती ने कहा, "पहली तारीख़ को दे जाऊँगी···"

"कोई बात नहीं, आ जायेंगे···" बलवन्त ने कहा, तो वह जैसे उबर आयी थी। मन का बोझ भी कुछ हलका-सा लग रहा था। वह हमेशा की तरह ही चुपचाप बाहर निकल आयी, पर आज उसने आगे बढ़ने से पहले बलवन्तराय के चेहरे पर कुछ भाव पढ़ने की कोशिश करनी चाही। वह हमेशा की तरह ही शालीनता से मुसकरा रहा था। कुन्ती भी धीरे से मुसकरायी और हमेशा की तरह ही चुपचाप पटरी पर चल दी।

कुन्ती के घर की तरह शायद हजारों घर हैं और उसकी तरह की लाखों लड़कियाँ हैं, जो आज अपने पैरों पर खड़े होकर कुछ बनना चाहती हैं और अपने घर की खुशियाँ वापस लाना चाहती हैं। पर लड़की किसी बहुत ख़ूबसूरत दिन के लिए अपनी सब मुसकराहटें सँजोकर रखना चाहती है।

दूसरे मकान में रहने वाली कुन्ती भी यही चाहती थी और जो वह चाहती थी, उसके मिलने का विश्वास उसे शायद अभी तक है—आज शाम तक था···।

और उस दूसरे मकान—यानी कुन्ती के घर की यह कहानी यहीं ख़त्म

हो जाती है, क्योंकि अभी इससे आगे कुछ हुआ नही है। इस तारीख तक घटनाएँ यही तक पहुँची हैं।

इसलिए यह बात भी यही पर खत्म होती है।

परमात्मा करे ऐसा खुशनुमा दिन कभी न आये और किसी को मुसकराना न पड़े ! क्योकि दुनिया यही चाहती है।

तीसरा मकान—यानी लज्जा का घर।

लज्जा का घर ठीक उस चौराहे पर है, जहाँ से बाग़ के लिए रास्ता कटता है। उसे घर नहीं फ्लैट कहा जाता है। विकला या कुन्ती से लज्जावती का कोई सम्बन्ध नही है। फिर भी एक सम्बन्ध-मा दिखाई पडता है। उन दोनो को यह भी नही पता कि जहाँ से बाग के लिए रास्ता कटता है वहाँ पर कोई ऐसा शानदार फ्लैट भी है और वहाँ लज्जा नाम की कोई लड़की रहती है। लज्जा भी कुन्ती और विमला की तरह खूबसूरत है, लेकिन उसके रहन-सहन ने उसे कुछ ज्यादा ही खूबसूरत बना रखा है। उसके घर में रहनेवाले और लोगो के कपड़ों, जूतों और बालों मे चमक तो है, पर चेहरो पर धन की ललाई नही है। ऐसा लगता है जैसे इन लोगो के दिन फिर गये है और ये एकाएक मालदार हो गये है।

लज्जा को जब भी लोगों ने देखा है—मुसकराते हुए ही देखा है। अपनी कोई कार उसके पास नही है, पर वह हमेशा या तो किसी कार से जाती है *या टैक्सी से। ठीक तो मालूम नही, पर सुना यही है कि वह किसी बड़े* होटल में रिसेप्शनिस्ट है। कभी-कभी होटल का सामान लाने-ले जानेवाला वैगन भी उसे काफी रात गये घर छोड़ जाता है।

लज्जा को यह सन्तोष है कि आखिर उसने संघर्ष मे हार नही मानी और उन दिनो को उसने जीत लिया, जो बहुत ही दुखदायी और कष्टप्रद रहे है। किसी तरह वह परेशानियो के उस जंजाल से उबर आयी है, जो आये दिन उसे घेरे रहती थी। अपने पिछले चार-पाँच वर्षों के जीवन पर जब वह निगाह डालती है, तो उसे लगता है, जैसे वह एक भयंकर जंगल से बाहर आ गयी है और अब तमाम रास्ते सामने खुले पड़े हैं।

लोग उसे बहुत शक की निगाहों से देखते हैं। उसके फ्लैट के नीचे र

वाला ब्रोकर बड़े मज़े ले-लेकर उसकी कहानियाँ सुनाता है—"एक रात तो यह लड़की दो बजे आयी। बड़ी आलीशान गाडी थी।···और यही··· यही भाई जान···सीढियों वाली जगह में उस आदमी ने इसे प्यार किया और गाडी लेकर चला गया। यह यही बाहर खडी देर तक जाती हुई गाडी को देखती रही, फिर लड़खड़ाती हुई ऊपर चली गयी। बहुत देर तक इसने घण्टी बजायी, तब दरवाज़ा खुला और रास्ते में ही इस लड़की ने चीखना-चिल्लाना शुरू कर दिया। बहुत डाँट लगायी घरवालों को कि घण्टे-घण्टे-भर घण्टी बजानी पड़ती है! घर मे सभी लोग थे, पर किसी ने चूँ तक न की।"

"कितनी तनख़्वाह मिलती होगी इसे?" एक ने ब्रोकर से पूछा था, तो उसने रस लेते हुए कहा था, "अरे, उसे पैसे की क्या कमी? कार से नीचे तो पैर नही रखती···बड़ी लम्बी-लम्बी दोस्तियाँ है उसकी···"

लज्जा को लेकर सब लोग बात करते हैं और अजीबो-गरीब क़िस्से सुनाते है···बेहद मज़ेदार और गन्दे किस्से। पर लज्जा इन सबसे बेफिकर है, न वह परवाह करती है। उसके रहन-सहन का ऐसा सिक्का सब पर जमा हुआ है कि उसके आने-जाने के वक़्त वे निगाहें लपेट जाते हैं।

लज्जा के होठों की मुसकराहट मे एक अजीब-सा जादू है, वह जादू जिसका अहसास अभी विमला को अपनी जिन्दगी मे नही हुआ है। लज्जा के शरीर मे मोहक कमनीयता है और चाल मे एक बनावटी खम है। हर रोज़ वह। बालों का स्टाइल बदलती है और अन्दाज मे भी बदलाव नजर आता है। लगता है कि वह बहुत तेज़ी से किसी रास्ते पर बढती चली जा रही है, वह रास्ता खुला हुआ है। वह इतनी तेज़ रफ़्तार से भागती चली जा रही है कि कोई आवाज उस तक नही पहुँचती। वह ख़ुद किसी आवाज को सुनने की स्थिति मे नही है।

पास-पडोस में रहने वाले अपनी लड़कियो के लिए ख़ास तौर से चिन्तित हैं—लज्जा के साथ वाले फ़्लैट मे तो कोई गृहस्थ ज्यादा दिन तक रुक ही नही सका। उनकी बीवियों ने वहाँ उनका रहना मुहाल कर दिया। इसीलिए अब उसमें चिट फण्ड वालों का दफ़्तर खुल गया है, जो दिन-भर अपना व्यापार करते हैं और शाम को वही से बीयर पीकर घूमने के लिए

निकल जाते है। उन्हें भी लज्जा की मुसकराने वाली आदत से परेशानी होती है और वे वही बैठे-बैठे सुबह वाली मुसकराहट के बारे मे क़यास करते रहते हैं। आखिर उनकी बात यही टूटती है कि लज्जा कम-से-कम उनकी पहुँच के बाहर की चीज़ है। वे लज्जा को 'चीज़' ही कहते हैं।

लज्जा के घर में सब खुश है। उन्हें किसी चीज की दिक़्क़त नही है। मामूली और खास—सभी तरह के आराम उन्हें प्राप्त है। लेकिन वे सब लोग चोरों की तरह वहाँ रहते हैं। उसके घर का कोई आदमी नीचे बाजार से सौदा नहीं खरीदता और न वहाँ के लोगों से रब्त-जब्त ही रखता है। वे सब जैसे अकेले-अकेले रहते हैं। ख़ास तौर से लज्जा की माँ जब कभी बारजे पर दिखाई पडती है, तो एकाध निगाहें फौरन यह बताने लगती हैं कि यही है उस लड़की की माँ! उन नजरों की भाषा को उसकी माँ पढ लेती है और इस बात का सन्तोष करती है कि वह अब उस मुहल्ले में नहीं है, जहाँ तमाम रिश्तेदार रहते थे, नही तो वे कुढ-कुढकर ही जान दे देते।

लज्जा अधिकतर तीन आदमियों के साथ दिखाई पडती है और एक रात, जबकि मौसम बहुत ख़राब था, आसमान रुँधा-रुँधा-सा था और धूल-भरी आँधी चल रही थी, तो लज्जा दिलीप की कार से उतरी थी। उसका मुँह उतरा हुआ था। आँखों मे बड़ा सूनापन-सा था, बाल भी बिखरे-बिखरे-से थे।

वह दिलीप को अपने साथ ऊपर ले गयी थी और कमरा चारों तरफ़ से बन्द करके उसने वहशियों की तरह उसे ताकते हुए पूछा, "तुम आखिर इनकार क्यों करते हो? क्या नही है मुझमे···इतने दिनों मे क्या बदल गया है?"

दिलीप कुछ देर चुप बैठा रहा था। लज्जा ने उसे फिर कुरेदा था, तो उसने कहा, "मैं जो कह चुका हूँ, उसे ही दोहरा सकता हूँ···"

"लेकिन क्यो?" लज्जा अस्तव्यस्त-सी हो गयी थी और दिलीप के कन्धे से उसने अपना सिर टिका दिया था। दिलीप ने एक बार बहुत गहरी नजरों से उसे ताका था, जैसे वह ज़ोर लगाकर अपना निश्चय बदलने की कोशिश कर रहा हो। लज्जा सीधे बैठ गयी थी और खामोश निगाहों से

अपना उत्तर माँग रही थी।

"इस बात को उठाना ही बेकार है, लज्जा ! इस पर बहस नहीं की जा सकती।" दिलीप ने बहुत सोचकर कहा था, "शादी का सवाल नहीं उठता···"

कमरे में बड़ी मनहूस खामोशी छा गयी थी और कुछ देर बाद दिलीप उठकर चला गया था। लज्जा उसे नीचे छोड़ने नहीं आयी थी।

लज्जा के फ़्लैट की तरह हज़ारों फ़्लैट हैं और उसकी तरह की हज़ारों लड़कियाँ भी हैं। उतनी ही सुन्दर, कोमल और हर वक़्त मुसकराने वाली। हर लड़की अपने हाल से परिचित है और अपनी जिन्दगी बदलना चाहती है। हर लड़की यही चाहती है कि सब लोग उसे चाहें लेकिन उनमें कोई एक ऐसा हो, जो सिर्फ़ उसे चाह सके, ताकि उसे यह सन्तोष हो कि वह जिन्दगी में हारी बाज़ी जीत गयी है।

तीसरे मकान में रहने वाली लज्जा भी यही चाहती है और जो वह चाहती है, उस ओर जाने वाला रास्ता पहले ही कट चुका है।

और उस तीसरे मकान—यानी लज्जा के घर की कहानी यहीं ख़त्म होती है, क्योंकि अभी इससे आगे कुछ हुआ नहीं है। इस तारीख तक घटनाएँ यहीं तक पहुँची हैं। इसलिए यह बात भी यहीं पर खत्म होती है।

परमात्मा करे, लज्जा-जैसी ख़ूबसूरत और दिल रखने वाली लड़कियों को ऐसे रास्ते पर न जाना पड़े, जिससे फिर लौटा न जा सके ! क्योंकि दुनिया यही चाहती है।

चौथा मकान—यानी सुनीता का घर।

लज्जा के घर के पास से बाग की तरफ़ जो रास्ता कटता है, उसी पर थोड़ी दूर आगे सुनीता का घर है। विमला, कुन्ती या लज्जा में से कोई भी सुनीता को नहीं जानती। सुनीता भी उन्हें नहीं जानती। जानने का कोई सवाल भी नहीं उठता। यहाँ इतने लोग रहते हैं, पर कोई भी किसी को नहीं जानता। किसी को किसी से कोई ख़ास मतलब नहीं है। पर सुनीता को देखने से न जाने क्यों विमला की धुँधली-सी आकृति सामने आकर खो जाती है।

सुनीता अपनी एक नौकरानी के साथ उस घर मे रहती है। पहले तो उसे मकान मिलने में ही बड़ी मुश्किल हुई, क्योंकि किसी आदमी के न होने के कारण मकान मिल ही नही रहा था। बमुश्किल तमाम उसे यह घर मिला है और वह बहुत घुटी-घुटी, उजड़ी-उजड़ी-सी रहती है। उम्र उसकी ज्यादा नही, यही विमला से थोडी बडी या शायद लज्जा की उम्र की होगी, पर जैसे अकेलेपन के घेरे ने उसे बिलकुल बदल दिया है। पहले वह किसी अच्छी नौकरी पर थी, पर अब उसने नर्सिंग की ट्रेनिंग ले ली है और एक नर्सिंग होम मे काम करती है। वह नर्सिंग होम यहाँ से बहुत दूर नही है। एक तो नर्स का पेशा, ऊपर से चारो तरफ़ मरा हुआ वीराना-पन। अँगुली की अंगूठी तक उतारकर रख देनी पडी है। और वह अँगूठी जो वह पहनना चाहती थी, वह तो अभी अँगुली मे आने का सवाल ही नही उठा। आधी ज़िन्दगी तक आते-आते जैसे सब रिक्त हो गया है। उसे उन सबकी याद है, जो कभी उसके साथ थे। अब उनकी धरोहर के रूप मे सिर्फ वे तसवीरें हैं, जो सुनीता ने अपने एलबम में लगा रखी हैं। उसके पास ऐसी कोई तसवीर नही, जिसे वह फ्रेम मे लगाकर रेडियो के ऊपर रखे··· कुरसी मे आराम मे बैठकर रेडियो सुने और उस तसवीर से बात करे··· क्योंकि सभी तसवीरें एक ही आवाज में बोलती है और तब तो वे आवाजें भी बहुत पीछे छूट गयी हैं।

वह बाज़ार से एक दिन एक ख़ूबसूरत-सी जापानी गुडिया ख़रीद लायी थी, वही उसने रेडियो पर रख ली है। जब अकेलापन बहुत सताता है, तो वह उसे ताकती रहती है।

वह यहाँ न आ पाती, तो शायद उसका जी सकना भी मुश्किल हो जाता। पिछली जिन्दगी अधमरे साँप की तरह पलटे खाती है। उसे लगता है कि अब ज़िन्दगी का पूरा अरसा कोई एक जगह गुजार ही नही सकता। दुनिया में कोई ऐसी जगह नही है, जहाँ अपनी ही जिन्दगी से कटकर रहा जा सके। पर हर जगह कुछ ही दिनो मे बदबू देने लगती है और रहना मुहाल हो जाता है। यही उसके साथ भी हुआ है। वह चाहती है कि पिछली ज़िन्दगी किसी तरह पीछा छोड़ दे, तो बाकी दिन वह चैन से रह ले। लेकिन वह चैन उसे कहीं नही मिलता। बड़े-बड़े लिफ़ाफ़ों मे बहुत-सी

दास्तानें बन्द हैं···और अलमारी में लगी किताबों में बहुत-सी ऐसी लाइनें बन्द हैं, जिन्होंने उसे गुमराह किया है। अब न किताबें पढ़ने को जी करता है और न उन लिफ़ाफ़ों को खोलने का मन होता है। मरीज़ों की सेवा करने के बाद भी तो राहत नहीं मिलती।

उसे सबसे ज्यादा अगर किसी का खयाल आता है, तो विनय का, पर उसके खयाल से भी कुछ नहीं होता। सब जगह से हारकर उसने विनय-मोहन से ही कहा था और वह तैयार भी हो गया था। तब सुनीता ने एक राहत की साँस ली थी। कुछ ही दिनों में उमगें फिर जैसे पनपने लगी थीं और लगता था कि बीती हुई ज़िन्दगी बीत गयी···जो बीतने पर भी साथ चल रही थी, वह छूट गयी, पर विनयमोहन से जुड़ने के बाद वह फिर लौट आयी थी।

तीन साल भी साथ चल सकना मुमकिन नहीं हुआ था। भरेपन के बावजूद हर दिन एक ऐसा क्षण आता था, जिसमें पछतावा होता था। ख़ुश हो लेने पर भी कोई बात कचोटती थी और यही लगता था कि वह भी चलेगा नहीं।

रात बाँहों में सोने पर भी जैसे अनजाने ही करवटें बदल जाती हैं, वैसे ही रह-रहकर सब कुछ छूट जाता था, सब बदल जाता था। यही लगता था कि साथ रहने और सहारे की यह जरूरत-भर क्यों है··· ज़िन्दगी की यह ज़रूरत कोई मजबूरी क्यों नहीं बन जाती···एक बेबसी क्यों नहीं बन जाती? हर दिन उसी तरह और हर रात उसी तरह गुज़रती है। आखिर विनय ने तलाक ले ली थी।

और अब सुनीता के पास कोई नहीं आता, वह किसी को बुलाती ही नहीं। नर्सिंग होम का कम्पाउण्डर कभी आता है, तो नौकरानी से बात करता है, डॉक्टर साहब का सन्देशा दे जाता है और चला जाता है।

वह कभी कोई ख़ूबसूरत-सी बिल्ली ले आती है या कोई कुत्ता पाल लेती है, फिर उन्हें भगा देती है। और कभी-कभी कमरे के सब परदे खोलकर वह सोचती है कि ऐसा क्या किया जाये, जिससे यह सारा माहौल बिखर जाये।

एक दिन तो उसके मन में आया था कि धर्म ही बदलकर देखे, शायद

तब कुछ बदले। लेकिन उससे भी कुछ होता नहीं दिखाई पड़ता। यह सबका सब एक मज़ाक़-भर बनकर रह गया है।

सुबह-सुबह डबलरोटी वाला आता है, तो सुनीता से ही बात करता है। नौकरानी चाहे जितना कहे, पर वह सुनीता से बात किये बग़ैर नहीं जाता। सुनीता भी उसका मन रख लेती है, क्योंकि उसके चेहरे पर अजीब-सी निरीहता है और वह लँगड़ा है। एक टाँग से साइकिल चलाता हुआ वह आता है और बाहर वाले चबूतरे पर पैर रगड़ते हुए साइकिल रोकता है। पीछे बँधे बक्से के कारण उसकी साइकिल हमेशा डगमगाती रहती है, पर वह गिरता नहीं।

आज सुबह भी डबलरोटी देने आया, तो सुनीता को ही निकलकर लेनी पड़ी। नौकरानी चाय की पत्ती ख़रीदने गयी थी। वह लँगड़ा डबल-रोटी वाला मुसकरा-मुसकराकर सुनीता से बातें करता रहा। आख़िर सुनीता ने ही बात तोड़ दी और वह सामने वाली चाय की गुमटी पर बिस्किट वग़ैरह देने चला गया।

नौकरानी आयी, तो उसने शिकायत की, "बीबीजी, ये लँगड़ा बड़ा ऐबी है।"

"क्यों, क्या हुआ?" सुनीता ने यों ही पूछ लिया, ताकि उसे तसल्ली हो जाये। बढ़ावा पाकर नौकरानी बोली, "मैं चाय की पत्ती के लिए गुमटी पर पहुँची, तो वह लँगड़ा आपको लेकर मज़ाक़ कर रहा था···कह रहा था···"

"क्या कह रहा था?" सुनीता ने बड़ी सरलता से पूछा।

"अरे, बड़ी बुरी बात कह रहा था।" नौकरानी की आँखें चौड़ी हो गयी थीं और वह चाय वाला भी मज़ाक़ कर रहा था···वह लँगड़ा कह रहा था कि डॉक्टरनी पर तो अपना दिल···आपके लिए ही कह रहा था।

सुनकर सुनीता हँस पड़ी। नौकरानी रसोई में चली गयी तो सुनीता ने शीशा सामने रखकर अपने को एक बार देखा। फिर बाल सँवारते हुए सोचने लगी, एक लँगड़ा आदमी, डबल रोटी और मज़ाक़ के सिवा और है ही क्या ज़िन्दगी में?

कुछ देर बाद वह तैयार होकर नर्सिंग होम की तरफ चली गयी।

सुनीता के घर की तरह हज़ारों घर हैं और उसकी तरह हज़ारों लड़कियाँ। उतनी ही सुन्दर, समझदार और बिलकुल अकेली। हर लड़की को अपना हाल पता है। हर लड़की इस अकेलेपन से छूटकर भाग जाना चाहती है।

चौथे मकान मे रहने वाली सुनीता भी यही चाहती थी और जो वह चाहती है, वह पूरा होकर भी पूरा नही होता।

और उस चौथे मकान—यानी सुनीता के घर की यह कहानी यही ख़त्म हो जाती है, क्योंकि इससे आगे अभी कुछ हुआ नही है। इस तारीख़ तक घटनाएँ यही तक पहुँची है।

इसलिए यह बात यही पर खत्म होती है।

परमात्मा करे यह लँगड़ी ज़िन्दगी किसी को ना मिले और यह मज़ाक किसी को न सहनी पड़े ! क्योंकि दुनिया यही चाहती है।

साँप

डाकबँगले का चौकीदार मोमबत्ती जलाकर चला गया। इतने दिनों के बीच उसे कभी डर नही लगा था। लेकिन आज की बातें कुछ ऐसी थी कि पूरा वातावरण भयावह हो गया था। चौकीदार ने बताया था, "साहब, बरसात मे जगली जानवरों का डर नही है, वैसे इस जंगल में चीतों, तेंदुओं और भालुओ का डर है, पर आजकल उन्हें सब जगह पानी पीने के लिए मिल जाता है, इधर झरने पर आने की ज़रूरत नही पडती ···लेकिन साँप ज़रूर निकल आते है। उनसे बचत का क्या ज़रिया हो सकता है ?"

इसीलिए आनन्द ने चौकीदार से कमरे के सब दरवाज़े बन्द करवा लिये, ख़ास तौर से बायरूम का, क्योंकि उधर एक पतली-सी नाली थी। लेकिन फिर भी न जाने क्यों उसका मन आशका से धडक जाता था···

इसी *नीरव-एकान्त* डाक बँगले का *सूनापन कभी-कभी* बहुत सताता था···उत्तर और दक्षिण की ओर घना जगल, पूरब की ओर झरना और पश्चिम दिशा में अजगर की तरह चुपचाप लेटी हुई पहाड़ी सड़क ! मन मे डर समाया जा रहा था। इस उजाड़ और वीरान प्रदेशों में कही कुछ हो जाये, तो !

और आवाजें भी सब ऐसी थी कि मन धड़कता था।

यह आवाजें वह पिछले दिनो भी सुनता रहा है पर जैसे आज अर्थ बदला हुआ है। कभी-कभी उसे लगता कि जब इन्दु आयेगी तो शायद उसकी लाश उसे यहाँ पडी मिले···तब वह क्या करेगी ? और अगर वह न आयी तब ? उस पर कुछ वश भी तो नही। सहारा सिर्फ़ यह सोचकर मिला कि डाकबँगले की विजिटर बुक मे उसका पता दर्ज है।

बाहर जंगली झाडियो से होकर बहती हुई हवा हलकी-हलकी सिसकारियाँ भर रही थी और लगता था कि ऊँची-ऊँची बरसाती घास में साँप रेंग रहे हो ··शीशे की खिडकियो से उसने बाहर झाँका—मटियाली चाँदनी मे चट्टानो की काली दरारें लेटे हुए साँपो की तरह लग रही थी··· एक पक्षी उडता हुआ चट्टान की छाती तक आया और एकदम सीटी बजाता हुआ ऊपर आसमान की ओर उड गया···उसकी वह भयातुर सीटी कई क्षणो तक वातावरण मे गूँजती रही। झटककर उसने पैर उठाया—काली-सी पतली छाया अभी उसके पैर के पास से सरसराती हुई गुज़री है। मोमबत्ती की लौ अभी तक काँप रही है, और वह कूदकर बिस्तर पर पहुँच गया। सुना है कि खाट पर साँप नही चढते···लेकिन यह तो निवाड़ का पलग है, लोहे के फ्रेम वाला। एक और मोमबत्ती निकालकर उसने जलायी और मेज पर चिपका दी, सिगरेट सुलगाकर जैसे वह अब अपने डर पर विजय पाना चाहता हो···

सिर्फ रात-भर की बात है। शायद कल सुबह इन्दु आ ही जाये। इस समय सिर्फ एक से दो होने का सहारा है। और कुछ भी नही। न इन्दु की बातो का खयाल और न उसकी निकटता का लोलुप अहसास।

लेकिन इस तरह रात-भर नींद नही आयेगी। यह सरसराते हुए अदृश्य सर्पों की शकाएँ उसे अधमरा कर जायेंगी और ऐसे मे इन्दु की याद भी आती है। कितनी अजीब स्थिति है। भय और प्यार का मिला-जुला रोमाच। इतना एकात कभी नही मिला, इन्दु के साथ। काश ! अगर वह आ जाये तो खूब बातें करेगा। उसके बहुत नजदीक बैठकर···बहुत नजदीक बैठ सकने की कल्पना मात्र से सरसराहट-सी होती है। उसकी भीगी उदास आँखें और कनपटियो पर घूमे हुए बालो के छल्ले। वह सिर्फ उन्हें देखेगा नही, बल्कि हलके से छुएगा। पता नही तब इन्दु कैसा महसूस

पेड़ों के नीचे ले जायेगा जिनमें मधुमक्खियों के छत्ते हैं, और वहीं बैठकर, उसे अपने बहुत पास महसूस करते हुए वह घटना सुनायेगा कि कैसे एक भालू शहद पीने के लिए पेड़ पर चढ़ गया था···इन्दु आश्चर्य करेगी और एकदम पूछेगी, "तुमने कैसे देखा?" पर मन में वह जानता है कि इन सब बातों के पीछे एक ऐसी अनकही बात होगी जिसके अर्थ बिलकुल दूसरे होंगे और इन्हीं असम्बद्ध और अलग-अलग टूटी हुई बातों के साये में कोई एक बहुत गहरी बात जुड़ती जायेगी···

फिर शायद पानी बरस जाये तो वह इन्दु को जबरदस्ती बँसवाड़ी के पास खींच लायेगा और उसे भीगने देगा। भीगने पर इन्दु बहुत शरमायेगी·· उसकी बरौनियाँ काँटों की तरह हो जायेंगी और उसके नक्श धुलकर संगमरमर की मूर्ति की तरह निखर आयेंगे। बँसवाड़ी पर गिरते हुए मेह के उनींदे संगीत में वे दोनों एक-दूसरे को चाहत-भरी नज़रों से देखेंगे और बैठे रहेंगे···

इसके बाद शाम आयेगी। तब घिरते हुए अँधियारे में वह इन्दु को झरने पर ले जायेगा और वहाँ निस्संकोच उसे अपने कन्धे से सटाकर उन जगहों को दिखायेगा जहाँ-जहाँ वह इन पिछले दिनों अकेले में बैठकर उसकी याद करता रहा है, जिन चट्टानों के अकेलेपन ने उसे हमेशा उदास कर दिया है···तब बिलकुल निकट होते हुए इन्दु प्यार के ज्वार से भरी हुई आँखें उठाकर उसे ताकेगी और तब, बस तभी झरने के शोर में और अँधियारी पड़ती हुई घाटी के सूनेपन में वह इन्दु को पहली बार प्यार करेगा। और उसके प्यार करते ही आसमान में चाँद और सितारे छिटक जायेंगे···

खुली हुई धरती और खुले हुए आसमान के बीच अच्छी और बुरी सभी दूरियाँ समाप्त हो जाती हैं···वहाँ से वह इन्दु को झिलमिलाते चाँद-सितारों के साये में डाकबँगले की छत पर ले जायेगा और दोनों वहीं अपनी जिन्दगी के सपने बुनेंगे···

और सब कुछ ठीक वैसा ही हुआ जैसा कि उसने सोचा था। चाय पीने के बाद ही वह नदी के ऊपर फैले हुए हाथ की तरह निकली चट्टान

पर गया…धूप निकलने पर वह उसे उन्ही छतनार पेड़ों के साये में ले गया। और सचमुच फिर पानी भी बरस गया था, वह उसे जबरदस्ती खींचकर बांस की झाड़ियों के पास ले गया…इन्दु ठीक वैसी ही लग रही थी जैसी उसने कल्पना की थी। सब कुछ उसी तरह घटित होता गया जैसा कि उसने सोचा था।

और अब सब क्षणों से ज्यादा उसे शाम का ही इन्तजार था।

और शाम भी आयी।

झरने की तरफ जाते हुए इन्दु आगे-आगे चल रही थी, जैसे उसकी बड़ी गहरी पहचान हो इन सब स्थलों से। उसके पख लग गये हो। अँधियारा नीचे उतरता आ रहा था कि इन्दु झाडी मे फँसी अपनी साड़ी खीचकर छिटककर एक पत्थर पर खड़ी हो गयी और अपनी शका को हाव-भाव से डरावना बनाते हुए एकदम बोली, "बड़ा डर लगता है घास मे चलते हुए। कही कोई साँप-वाँप हुआ तो। दिखाई भी नही पडेगा…" और डर के दिखावे मे उसकी आँखें बडी-बड़ी हो गयी थीं।

एकदम भीतर-भीतर सिहरकर आनन्द ने अपना पैर ऐसे झटका जैसे सचमुच उसमें साँप लिपट गया हो, पर उस सिहरन को बुरी तरह से दाबकर वह एकदम बोला, "डरपोक कही की!"

"मेरे साथ चलो!" इन्दु ने बच्चे की तरह मासूमियत से कहा और आनन्द ने बढ़कर उसका हाथ पकड़ लिया, यह उसे बहुत अच्छा लगा। और न जाने कितनी बातें करते हुए वे दोनो नीचे झरने के चरणों मे उतर गये। इन्दु अवाक् खड़ी देखती रह गयी उस सौन्दर्य को। शाम की स्याही का झीना-सा परदा पूरे दृश्य पर पड़ा था, इसलिए वह और भी स्वप्निल-सा हो उठा था…

चारों ओर घोर निस्तब्धता थी। झरने का शोर उस ख़ामोशी को और भी घनीभूत कर रहा था और गिरते हुए पानी की फुहारें उनके ऊपर पड़ रही थीं। चारों ओर बडी-बड़ी चट्टानें पड़ी हुई थीं…झरने का पानी घहराता हुआ झील में गिर रहा था। पास की कुछ चट्टानो पर काई की हरी मख़मली चादर बिछी थी और उसके ऊपर स्थिर पानी का शीशा जड़ा हुआ था…

इन्दु तन्मय खड़ी थी और आनन्द उसकी पीठ पर हाथ रखे जैसे अपने को भूला हुआ था। तभी माथे पर आये हुए अपने बालों को हटाते हुए इन्दु ने जैसे सपने में डूबे-डूबे कहा, "कितनी शान्त है यह जगह और कितनी खूबसूरत···"

उस क्षण आनन्द ने सिर्फ़ इन्दु को देखा था···कितनी शान्त थी इन्दु और कितनी खूबसूरत। इन्दु ने जैसे अनजाने ही अपनी अँगुलियाँ उसकी अँगुलियों में फँसा ली थी। और उन चट्टानों को दिखाते हुए उसने इन्दु को अपने और पास कर लिया था। उसे बताया था कि किस चट्टान पर और कब उसे इन्दु की बहुत याद आयी थी···और उन चट्टानों को दिखाते-दिखाते उसे लगा कि उनमें कुछ और भी है जो उसने बड़ी मुश्किल से दाबकर कहने से बचा लिया है। तभी उस चट्टान पर वह बैठ गयी थी। नीचे पानी की ओर देखते हुए उसने कहा था, "पानी कैसा अकुला रहा है। आनन्द···जैसे नीचे भट्ठी जल रही हो। फेन की कैसी जंजीरें बन रही हैं।"

आनन्द ने पास बैठकर उसके कन्धे का सहारा लेते हुए ऐसे देखा था जैसे उस उफनते पानी को पहली बार देख रहा हो। इन्दु ने अपनी मस्ती में उस फेन की लकीरों को ऐसी उपमा दे डाली थी कि आनन्द की चेतना में वह धँस गयी, वह बोली, "उबलता हुआ साबूदाना हो जैसे, क्यों आनन्द ···या फिर साँप की केंचुली की तरह यह फेन की धारें उलझ रही हैं।"

आनन्द भीतर ही भीतर ठिठक गया, बोला कुछ भी नहीं पर उसे पानी की वे उफनती हुई धारें ऐसी लग रही थी जैसे नीचे धरती फट गयी हो और तमाम सफ़ेद साँप अकुला-अकुलाकर निकलते आ रहे हों। एक-दूसरे में उलझे हुए···और फिर सुलझकर पानी की धार में अदृश्य होकर झील में गिर पड़ते हों···और वातावरण में व्याप्त यह सिसकारियाँ उन्हीं साँपों की हों।

इन्दु ने अपना सिर उसके सीने से टिका दिया था। एक नयी गन्ध और एक नयी आवाज उस तक आयी थी। सपाट पत्थर पर इन्दु की रेशमी साड़ी सरकी थी कि उसे लगा जैसे कोई सर्प धीरे से सरक गया हो··· उसने पीछे देखा, गज-भर की दूरी पर दो चट्टानों के बीच कँटीली झाड़ी

उगी हुई थी।

इन्दु ने मुख उठाकर उसकी ओर देखा। उसकी अँगुलियों की पकड़ और कड़ी हो गयी थी। हवा का एक झोंका सरसराता हुआ निकल गया और पानी की फुहार से उसकी आँखें झँप गयीं। आनन्द ने इन्दु को बहुत गहरी नजरों से एक बार देखा और जैसे आश्वस्त होने के लिए चारों ओर नजर दौड़ायी—कोई पक्षी तो नहीं···कोई दृष्टि तो नहीं···

और उसकी नजरें सामने खड़ी चट्टानों पर जम गयीं, जिनके कगारों पर उगे हुए पेड़ों की जड़ें मोटे-मोटे अजगरों की तरह चिपकी हुई थीं। शरीर से पसीना-सा छूट गया···भय और रोमांच के उलझे हुए भावावेगों ने उसे घेर लिया···उसने एक बार फिर इन्दु को देखा, वह और भी निकट थी, फिर उसने पीछे देखा···पीछे वाली चट्टानों पर भी वैसे ही अजगर चिपके हुए थे और अँधेरी दरारों से उनके फुफकारने की सिसकारियाँ आ रही थीं···अधलेटे आनन्द को पीठ के पीछे सरसराहट-सी महसूस हुई जैसे कोई साँप सरक रहा हो। घबराकर उसने हाथ पीछे किया तो इन्दु की रेशमी बाँह पर टिक गया···वह कुछ आश्वस्त हुआ। जैसे आसपास का सब कुछ भूल गया हो···धीरे-धीरे उसने इन्दु का जूड़ा खोलकर उसके बाल बिखरा लिये—बड़ी मादक गन्ध फूटी थी, जैसे कस्तूरी महक उठी हो। उसने बाँह उसके सिर के नीचे रख दी थी—बालों का जाल बिखरा हुआ था···

उसने इन्दु को फिर देखा और इन्दु ने उसे। और—और तब साँसों का स्वर एक होते-होते उसकी बगल पर जैसे किसी ने पतला-सा सुई-जैसा दाँत चुभोया था और उस दोहरी बेहोशी में उसने देखा—एक पतला-सा साँप सरककर झाड़ी में समा गया···

"साँप।" वह एकदम चीख पड़ा।

इन्दु घबरा कर उठ खड़ी हुई।

और आनन्द दो जहरों की बेहोशी में वैसा ही खड़ा था। उसके शरीर-में सनसनी दौड़ती चली जा रही थी···भीतर हर धमनी फटी जा रही थी। उसने इन्दु से कहना चाहा, "मुझे साँप ने काट लिया है।" लेकिन *अपने को बहुत सँभालते हुए वह केवल डाकबँगले तक आना चाहता था।*

"इन्दु आओ···जल्दी चलो !" घबराहट में उसने कहा और चलने से पहले उसे लगा कि वह अब नहीं चल पायेगा। अभी नीला होकर यहीं गिर पड़ेगा। इन्दु अब क्या करेगी ··क्या होगा अब ?

मुझे पकड़ लो इन्दु···न जाने कैसा लग रहा है··" आनन्द ने कहा और इन्दु उसके साथ-साथ चलने लगी। वह बहुत जल्दी से विस्तर पर पहुँच जाना चाहता था। उसके शरीर में जैसे सारा रक्त पानी हुआ जा रहा था और चेहरे पर पसीना छलछला आया था। धमनियों में विष चढ़ता जा रहा था···

कमरे में आते ही बाँहों से मुँह का पसीना पोंछ कर वह बिस्तर पर गिर पड़ा। इन्दु के चेहरे पर घबराहट उभर आयी, उसने उसके माथे पर अपना हाथ रखते हुए पूछा, "क्या हुआ आनन्द···तुम इतने घबरा क्यों गये ?"

आनन्द को लगा कि वह और भी नीला पड़ता जा रहा है, उसने उसी घबराहट में कहा, "चौकीदार को बुला लो इन्दु, पास कोई अस्पताल भी नहीं ···मुझे साँप ने काट लिया है।"

"कहाँ ?" दहशत-भरे स्वर में इन्दु ने पूछा तो उसने पीठ पर अपनी बगल की ओर इशारा कर दिया। इन्दु ने उसे करवट देते हुए देखा और धीरे से मुसकरा दी।

कमीज में उसके बालों का एक हेयर-पिन उलझा हुआ था।

इन्दु ने पिन निकालकर आनन्द के हाथ में पकड़ा दिया और मुस-कराती हुई अपना जूड़ा बाँधने लगी।

एक रुकी हुई ज़िन्दगी

मुकाम : चाँदनी चौक

लाल किले से फतहपुरी तक की दूरी।

मैं बिल्लीमारान के पास स्कूटर से उतरा ही था कि चमन मिल गया। कोई काम मुझे वहाँ नहीं था। पुरानी दिल्ली देखने की तबीयत हुई तो जामा मसजिद होता हुआ पहुँच गया था।

पहली नजर मे मैं चमन को नही पहचान पाया। वह बहुत बदला-बदला लग रहा था। करीब दस साल बाद मैं उसे देख रहा था। बँटवारे के वक़्त वह मेरे छोटे-से शहर मे आया था और उसने कुछ कारबार करने की कोशिश की थी। लेकिन छोटे-से शहर मे तीन साल तक हाथ-पैर मारने के बाद दिल्ली चला आया था। एक तरह से मैं भूल भी गया था। उसे देखते ही मुझे इतना-भर याद आया कि मैंने इस आदमी को कही देखा है, सिर्फ देखा ही नही है, बल्कि कभी इससे अच्छी तरह बातें भी हुई हैं···

तभी चमन ने मुझे पुकार लिया। मैंने उसे देखा और आवाज के सहारे मुझे सारी बातें याद आ गयी। यह वही चमन था जो मुझे मेरे छोटे-से शहर में दस साल पहले मिला था···दोस्ती होने के कुछ ही दिन बाद वह मुझे अपने घर ले गया था और सतवन्ती से परिचय कराया था—मैं सतवन्ती

को देखता ही रह गया था। मैंने कभी सोचा नहीं था कि चमन-जैसे मामूली आदमी की बीवी इतनी ख़ूबसूरत और अच्छी होगी। सतवन्ती मे एक अजीब-सा निखार था। उस क्षण मुझे चमन से रश्क भी हुआ था। काफी देर मैं उसके कमरे मे बैठा रहा था, और बराबर मेरा मन यही करता रहा कि सतवन्ती सामने बैठी रहे और मैं उसे देखता रहूँ।

मुझे आज भी याद है—चाय बनाने के बाद सतवन्ती ठीक मेरे सामने ही बैठ गयी थी। कभी-कभी ऐसा भी होता है, जो मन सोचता है ठीक वैसा ही होता जाता है। बातों के बीच सतवन्ती मुझे सताती रही और वह जान भी नहीं पायी होगी कि मैं क्यों सताया हुआ महसूस कर रहा था।

हम तीनों ही चाय पी रहे थे। शहर में कौन-सा कारबार चल सकता है, इस विषय पर चमन से बातें होती जा रही थीं। अनजाने ही सतवन्ती अपने कुरते का सबसे ऊपर वाला चटखनी का बटन खोलकर बन्द कर लेती थी। उसकी चुट-चुट की आवाज सचमुच मुझे सता रही थी। मैं आँख चुराकर उधर देखता, तब भी वह अनजान ही बनी रहती और मेरी नज़र उसकी गोरी गरदन और नरम अँगुलियों पर फिसलती हुई लौट आती।

जितनी देर मैं बैठा रहा, बटन खोलने और बन्द करने की वह चुट-चुटाहट मुझे बेचैन किये रही।

आज भी मुझे अच्छी तरह याद है, और फिर चमन को देखते ही मेरे दिमाग मे वह आवाज चुट-चुट करने लगी थी। उसी कमरे मे एक पुरानी-सी दीवार-घड़ी भी लटकी हुई थी जिसका पेण्डुलम हिल रहा था और कभी-कभी बटन की आवाज उस दीवार-घड़ी की टिक-टिक मे खो जाया करती थी।

सतवन्ती मुझे चमन से ज्यादा याद है···

और बिल्लीमारान गली के मुहाने पर चमन को पहचानते ही मुझे सतवन्ती का ख़याल आया था। तभी चमन ने मुझसे पूछा, "कब दिल्ली आना हुआ ?"

"क़रीब चार महीने हुए।" मैंने कहा तो उसने जानना चाहा, "यहाँ

कहीं नौकरी कर ली है ?"

मैंने उसे बताया कि मैं नौकरी के लिए ही दिल्ली आया हूँ और अब यहीं रहूँगा। लेकिन चमन की हालत देखकर एकाएक उसके बारे में कुछ पूछने की हिम्मत नहीं पड़ रही थी। सर्दी के कारण चमन के मुँह पर अजीब-सा रूखापन था। बालों में सफ़ेदी आ गयी थी और उसकी कमज़ोर अँगुली पर काले पत्थर वाली अँगूठी मेढ़क की आँख भी तरह लग रही थी। उसकी कमीज़ भी गन्दी थी और पैण्ट पैजामे की तरह गोल हो गयी थी। कोट भी अजीब ढीला-ढीला-सा लग रहा था और उसके काफ़ी चौड़े अमरीकन कालर में एक सूखा हुआ फूल डोरे पर ऐसे लटक रहा था जैसे सलाख पर बैठा हुआ कोई सतरंगी तोता मर गया हो। टाई बँधी हुई थी पर उसकी गाँठ पर चिकनाई का मैलापन झलक रहा था।

मैंने सामने की तरफ़ इशारा करते हुए पूछा, "वह कौन-सी जगह है ?"

"फ़तहपुरी ममजिद है।" चमन ने बताया और हम दोनों उसे देखने के लिए बढ गये। बहुत लम्बा-चौड़ा सहन था और वहाँ पाकीजगी की गन्धथी, बावली के आस-पास कबूतरों के झुण्ड के झुण्ड गुटरगूँ-गुटरगूँ करते हुए दाना चुन रहे थे और उनकी बीट से आधा सहन भरा हुआ था।

"कौन-सा कारबार कर रहे हो ?" मैंने वहीं पत्थर की बेंच पर बैठते हुए पूछा तो चमन ने बहुत धीरे से कहा, "घड़ियों का।"

"दूकान कहाँ पर है ?"

"यहीं चाँदनी चौक में—एक चाटवाले से दूकान का आधा साझा कर लिया है, सुबह से चार बजे तक मैं घड़ियों की दूकान चलाता हूँ। चार बजे चाट वाला आकर अपनी दूकान लगाता है तो मैं घड़ियाँ समेटकर उठ आता हूँ।"

"ऐन चाँदनी चौक में जगह मिल गयी, यह तो बड़ी बात है !" मैंने कहा तो चमन के चेहरे पर फीकी-सी मुसकराहट फैल गयी और वह बोला, "हाँ, जगह तो अच्छी ही है पर बात कुछ बनी नहीं—यहाँ घड़ियों की इतनी दूकानें हैं कि घड़ियों को बेच सकने का मौका ही नहीं है, और मरम्मत के लिए कोई छोटी दूकानों पर आता नहीं !"

घुमा-फिराकर मैं बात को सतवन्ती पर लाना चाहता था कि तभी उसने कहा, "चलो, घर चलके ज़रा बैठेंगे।" मैं फ़ौरन् तैयार हो गया। हाँ, मैंने उससे इतना ज़रूर पूछा कि घर है कहाँ पर, तो उसने बताया कि टाउनहॉल के पास ही एक गली में उसका कमरा है।

और हम दोनों कमरे पर पहुँचे तो जैसे ही उसने जेब में हाथ डाला कि मेरा सारा उत्साह ठण्डा पड़ गया, क्योंकि कमरे के दरवाज़े पर ताला लटक रहा था।

"भाभी कहीं बाहर गयी हुई हैं?" मैंने पूछा तो उसने कुछ जवाब नहीं दिया। कमरा अँधेरा पड़ा था और उसमें अजीब-अजीब रुँधी हुई हवा की भभक-सी आ रही थी।

बिजली की पीली रोशनी में कमरे की उदासी और भी गहरी हो गयी। उसका सारा सामान मेरे लिए बिना पहचान का था—सिर्फ़ सामने दीवार पर वही पुरानी वाली दीवार-घड़ी लटक रही थी। उस घड़ी को देखते ही मेरा दिल धड़कने लगा और मुझे अहसास हुआ कि अभी सतवन्ती कहीं से निकलकर आयेगी और अपना चटखनी-बटन खोलने, बन्द करने लगेगी। मैंने कुछ क्षणों बाद फिर घड़ी पर नज़र डाली। वह बन्द थी। उसमें सवा आठ बजे थे। और उसकी दोनों सुइयाँ मरे हुए मकड़े की टाँगों-जैसी एक ही जगह चिपकी हुई थीं।

बन्द दीवार-घड़ी को देखकर मुझे तकलीफ़-सी हुई, क्योंकि मैं उसी यातना का अनुभव चाहता था जो मैंने दस साल पहले भुगती थी।

चाँदनी चौक में रौनक थी।

ऊपर बने हुए उस कमरे में भी भीड़ और चहल-पहल की धड़कनों का अहसास हो रहा था।

हज़ारों लोगों की भीड़ इस सड़क पर आ-जा रही होगी। दूर स्टेशन पर उत्तर रेलवे का लाल मुकुट चमकने लगा होगा। टाउनहॉल के सामने स्कूटरों की भीड़ भी होगी और बिजली के तारों पर हज़ारों सिलेटी कबूतर अब भी बैठे होंगे…

चमन चाय बनाने के लिए स्टोव जला रहा था, उसकी सुरसुराहट भी

कमरे में भरती जा रही थी और जलते हुए मिट्टी के तेल की गन्ध बहुत ही बुरी लग रही थी। मैंने अपनी घड़ी देखी—सिर्फ़ पाँच बजे थे। चाँदनी चौक मे रौनक का यही वक़्त था।

नीचे से शायद ट्राम गुज़र रही थी—उसकी खड़खड़ाहट और टन-टन की आवाज़ मुझे सुनाई दे रही थी।

"मैं एक मिनिट में आया, ज़रा सिगरेट ले आऊँ।" कहकर मैं नीचे उतर आया—सड़क पर आते ही मैंने खुलकर साँस ली और रुककर इधर-उधर देखने लगा।

रगीन लिबास मे सैंकड़ो औरतें ख़रीद-फ़रोख़्त के लिए परेशान-सी घूम रही थीं। हज़ारों आदमी इधर से उधर बेमतलब आते-जाते दिखाई दे रहे थे···एक लम्बा-सा जुलूस टाउनहॉल के बायें दरवाज़े से स्टेशन की तरफ़ जा रहा था और दूर आसमान ताँबे की तरह मटमैला हो गया था। पाखियों की एक क़तार आसमान के परदे पर परछाईं की तरह खिसकती जा रही थी।

पटरियों पर सस्ती कमीज़ों वाले अपनी दूकानें लगाये चिल्ला रहे थे। बड़ी दूकानों के एजेण्ट खरीदारो को वरगलाकर शाइस्ता ढग से दूकान मे कदम रखने की इल्तिजा कर रहे थे। बूट-पॉलिश करने वालो की क़तार अपनी पेटियाँ पीट रही थी और व्यापारियो की कारों का सहारा बनाकर चटाइयो वाले अपने माल को दिखा-दिखाकर मोल-तोल कर रहे थे। चाट वालों की दूकानों से प्लेटों की खनक आ रही थी और सीसगंज गुरु-द्वारा से सबद की हलकी-हलकी गुनगुनाहट फूट रही थी। कुछ कैंदियो को लिये हुए एक मोटर आयी और चाँदनी चौक थाने में भरभराती हुई घुस गयी।

तभी मुझे एकाएक ध्यान आया कि चमन चाय बनाकर मेरा इन्तज़ार कर रहा होगा। मेरा मन क़तई नही हो रहा था, पर लाचार-सा मैं सिगरेट खरीदकर उसके कमरे की ओर बढ गया।

चमन खाट पर माथा पकड़े बैठा था और स्टोव गुरगुरा रहा था। आखिर मुझसे नही रहा गया, मैंने फिर पूछ ही लिया, "भाभी कहाँ गयी हुई है?"

"सतवन्ती तो गुज़र गयी।" चमन ने बड़े रूखेपन से जवाब दिया। उसकी बात सुनकर न दुःख प्रकट करने का सवाल रह जाता था और न औपचारिक बातें करने का। सुनकर मुझे धक्का-सा लगा। मैं ख़ामोश ही बैठा रहा और जलाने के लिए निकाली हुई सिगरेट वापस पैकेट में रख ली।

चाय बनाते हुए चमन ने एक बार घड़ी की ओर देखा और अपने-आप ही बोलने लगा, "चार बरस हुए सतवन्ती को गुज़रे हुए! इसी कमरे में उसकी मौत हुई थी—रात को सवा आठ बजे!"

एकाएक मेरी नज़र फिर घड़ी की तरफ़ चली गयी और मैंने उसे बेहिचक देखा—दीवार-घड़ी में सवा आठ बजे हुए थे। और मुझे लगा कि यह दीवार-घड़ी अभी टिक-टिक करने लगेगी और सतवन्ती इसी के साथ कहीं से अभी आ जायेगी।

लेकिन उस दीवार पर वह घड़ी लटकी हुई थी।

उस घड़ी में सवा आठ बजे थे।

और वह घड़ी रुकी हुई थी!

"तभी से यह घड़ी मैंने रोक दी है!" चमन ने कहते हुए प्याला मेरी तरफ़ बढ़ाया, "ज़िन्दगी बड़ी मुश्किल होती जा रही थी। सोचा था, दिल्ली में कुछ हाथ-पैर मारूँगा, पर यहाँ आकर हालत और भी बिगड़ गयी। सतवन्ती तो दिन-दिन-भर रोती रहती थी पर उसने कभी परेशान नहीं किया। जितना ले आता था, उसमें गुज़ारा कर लेती थी। यहाँ आकर उसकी सेहत बिगड़ती ही गयी···" बात रोककर वह चाय पीने लगा।

मैं उसे देखता रहा तो वह कुछ क्षणों बाद फिर बोला, "उसके बाद तो ज़िन्दगी और भी भारी पड़ रही है। मुसीबतें झेलने के लिए वह साथ तो थी। मैं बरदाश्त कर सकता था, वह नहीं कर पायी, बहुत बुरा लगता है कभी-कभी···"

चाय पीकर कुछ देर तक हम बैठे रहे। आख़िर भारी मन से मैं चला आया। चलते वक़्त चमन ने मेरा पता ले लिया था और कभी-कभी आने के लिए भी कहा था।

उसके बाद काफी दिन गुज़र गये—और एक दिन वह मुझसे दफ़्तर में मिलने आया। मैंने सोचा शायद किसी मुसीबत मे होगा, पर अपनी परेशानी की कोई बात उसने नही की। हँस-हँसकर बातें करता रहा और चाय पीकर चला गया।

तीसरे-चौथे दिन ही दफ़्तर के एक साथी ने कलाई पर बँधी ख़ूबसूरत घड़ी दिखाते हुए पूछा, "कैसी है?"

मैंने गौर से देखा—घड़ी बहुत अच्छी थी। फिर उसी साथी ने बड़े भेद-भरे ढंग से आहिस्ता से कहा, "बहुत सस्ते मे मार दी, स्मगल्ड घड़ी है। यों इसकी कीमत करीब तीन सौ है, पर मुझे एक सौ चालीस में मिल गयी है।" बात सुनकर पास खड़े दोस्त ने कहा, "यार, एक हमे भी दिलवाओ?"

"कह नही सकता, अगर वह आदमी फिर कभी इधर आया तो बात करके देखूंगा। मिल गयी तो ठीक है।"

और अनजाने ही मेरा ध्यान चमन की ओर चला गया—शायद उसी ने यह स्मगल्ड घड़ी लाकर दी होगी। मैं चुप ही रहा। सातवें रोज ही दफ्तर में चमन फिर आया लेकिन चाहते हुए भी स्मगल्ड घड़ी वाली बात मैं पूछ नही पाया। उस दिन उसने फिर मुझे घर आने की दावत दी और मुझे लगा कि अब चमन कुछ बदल रहा है।

उसकी ज़िन्दगी में फिर कुछ रवानी आ रही है—आख़िर कोई कब तक किसी एक दर्द को सीने से चिपकाये जी सकता है।

धीरे-धीरे दफ़्तर में घड़ियों की बिक्री की बात सुनसुनाने लगी और यह मशहूर हो गया कि कोई एक आदमी कस्टम वालों से मिला हुआ है और जब उसके हाथ घड़ियाँ आ जाती हैं, वह यहाँ आकर बेच जाता है।

चमन कभी-कभी महीने-भर बाद आता था और कभी पन्द्रह-बीस दिन बाद। मेरे सामने अब यह बात साफ़ हो चुकी थी कि उसके सिवा स्मगल्ड घड़ियों का व्यापार और कोई नही करता। एकाध बार मैंने उसे आते हुए भी देखा पर वह मुझसे मिलने नही आया।

मन में मुझे कुछ बुरा भी लगा। पर करता भी क्या ? लेकिन मुझे जब भी याद आता तो वही उस दिन का दृश्य, जबकि चमन चाय बना रहा था—और दीवार पर रुकी हुई घड़ी लटकी हुई थी। मुझे लगा कि चमन ने अब उसे ज़रूर चला दिया होगा और वह टिक-टिक कर रही होगी—अब अगर चमन मुझे अपने कमरे पर बुलायेगा तो भी मैं वहाँ जाने की हिम्मत नहीं कर सकता···

चार-पाँच दिन बाद ही वह धड़धड़ाता हुआ मेरे कमरे में आया और तरह-तरह की स्कीमें बताने लगा, कहने लगा, "मैं सोचता हूँ, एकाध स्कूटर खरीद लूँ, किराये पर अगर दो स्कूटर भी चलने लगें तो तीस रुपये रोज़ की बँधी हुई आमदनी है। और स्कूटर किस्त पर आसानी से मिल सकते हैं।

मैंने हाँ में हाँ मिला दी और उसके चेहरे की चमक देखकर मुझे लगा कि अब इसकी ज़िन्दगी दौड़ने के लिए तैयार है और चमन भी दिल्ली के और लोगों की तरह इस पागल कर देने वाली दौड़ में शामिल होने जा रहा है। उसे इस बात का विश्वास है कि कल सुबह या परसों सुबह या उसके बादवाले दिन की सुबह या उसके भी बाद वाले दिन की सुबह एक मौका ऐसा आने वाला है जो ज़िन्दगी का नक़्शा बदल लेगा और वह बेचारगी और अभावों की दुनिया से रातों-रात उबर आयेगा। वह दिन दूर नहीं है।

पर तभी मेरी आँखों के सामने चाँदनी चौक की बेपनाह भीड़ उभर आती है। हँसती-मुसकराती और लहराती हुई ज़िन्दगी दिखाई पड़ती है···

···और दिखाई पड़ती है एक दीवार, जिस पर एक घड़ी लटकी हुई है। उसमें सवा आठ बजे हैं, और वह सतवन्ती की मौत के क्षण से रुकी हुई है। और मुझे हर घड़ी रुकी हुई नज़र आती है और सब घड़ियों में सवा आठ बजे हुए दिखाई पड़ते हैं। लगता है जैसे हर घड़ी चाहे वह किसी भी रफ़्तार से भागे, पर जैसे ही उसके हाथ सवा आठ पर आयेंगे—धड़कनें रुक जायेंगी और सब कुछ स्थिर हो जायेगा। हर घर की दीवारों पर ये बन्द घड़ियाँ लटकती रह जायेंगी और सब आँखों से ओझल हो

जायेगा।

पता नही उस दिन किस बात की छुट्टी थी। मेरे दरवाज़े पर दस्तक हुई। बाहर निकलकर मैंने देखा तो एक सिपाही सादे लिबास मे खडा था। सिर्फ सिर पर पुलिस की टोपी थी। मैं एक क्षण के लिए हैरान हुआ, पर उसने मुझे उबार लिया, बोला, "चमनलाल ने भेजा है, वह कल रात गिरफ़्तार हो गया है। पार्लियामेण्ट थाने में है। वह चाहता है कि आप ज़मानत देकर छुड़ा लें।"

"किस मामले मे गिरफ्तार हुआ है ?" मैंने पूछा पर मैं जानता था कि स्मगल्ड घड़ियो वाला ही मामला होगा। सिपाही ने मेरा शक फ़ौरन दूर कर दिया, "कुछ घड़ियाँ-वडियाँ बेचने के इल्ज़ाम मे गिरफ़्तार हुआ है।

काफी कोशिश के बाद मैं चमन को छुड़ा लाया था और पूरा किस्सा भी जान चुका था। ज़्यादा घडियाँ बेचने की वजह से बात फैल गयी थी और किसी ने पुलिस को खबर दे दी थी।

आखिर मजिस्ट्रेट के सामने मामला पेश हुआ और चमन ने बयान दिया, "हुज़ूर, मेरी घडियों की दूकान चांदनी चौक मे है। मैं खुद घड़ियों का डीलर हूँ। पर दूकान से बिक्री नही होती, इसलिए मैं दफ़्तर मे जा-जाकर खुद घड़ियाँ बेचता हूँ। जितनी भी घड़ियाँ मैंने बेची हैं वे सब मेरी दूकान की है। उनकी रसीदे और कैशमेमो मेरे पास है। जितनी भी घडियाँ बेची गई हैं, उनमे से एक भी काले बाजार की घड़ी नही है। सेल्स टैक्स के कागज़ातों मे इन सब बेची हुई घडियों का पूरा ब्योरा मौजूद है। बम्बई की जिस फर्म से ये घड़ियाँ मेरे पास आयी है, उनके बिल अदालत के सामने मैं पेश कर रहा हूँ...मैंने कोई बेईमानी नही की है, सिर्फ अपना माल बचाने का यह तरीका मजबूरी मे अख़्तियार किया है। क्योंकि हुज़ूर स्मगल्ड कहने से माल बहुत जल्दी खप जाता है..."

मजिस्ट्रेट ने रसीदों और फर्म के बिलो की देखभाल के बाद चमन को बेदाग छोड़ दिया।

कोर्ट से निकलने के बाद चमन बहुत खुश नहीं था—और वह बार-बार मुझसे माफ़ी माँग रहा था कि उसकी वजह से मुझे काफ़ी परेशानी हुई। आखिर उसने मुझसे इसरार किया कि मैं उसके घर चाय पीकर जाऊँ।

मुकाम : चाँदनी चौक
लाल क़िले से फ़तेहपुरी तक की दूरी।

और टाउन हॉल के पास वाली वही गली और वही कमरा, जेब से चाबी निकालकर चमन ने ताला खोला और बिजली जलाकर चाय बनाने में मशगूल हो गया।

मैंने सोचा था कि शायद दीवार पर लटकी हुई वह घड़ी आज चल रही होगी···

पर वह उसी तरह रुकी हुई थी और उसमें सवा आठ बज रहे थे।

दुःख-भरी दुनिया

एक बेहद उदास शहर मेरी आँखों के सामने उभर रहा है। उस शहर की वीरानी में से सिसकियों की आवाज हवा पर तैरती हुई आ रही है। मैं नहीं जानता, यह शहर कौन-सा है, मेरे देश का है या विदेश का। कोई बच्चा सिसक रहा है। एक माँ है जो दूध का प्याला लिये बैठी है और बच्चे का बाप नींद में डूबा हुआ है।

उस अनजान शहर की सड़कों पर बारिश का पानी बह रहा है और रात सर्द है। बिजली के बल्बों के चारों ओर कुहासा भरा हुआ है। चूल्हे ठण्डे पड़े हैं। चिमनियों में धुआँ नहीं है। रात का सन्नाटा छाया हुआ है।

पता नहीं यह कौन-सा शहर है। इस शहर मे एक स्कूल भी है, रेलवे स्टेशन भी और अस्पताल भी। लेकिन चारों तरफ ख़ामोशी है। लगता है, रात की साँस उखड़ गयी है। अस्पताल से मरीजों के कराहने की आवाजें नहीं आ रही हैं। बारिश मे भीगते स्टेशन पर कोई गाड़ी भी आकर नहीं रुकी है। स्कूल में पढ़ने वाले बच्चे अपने घरों में इधर-उधर लेटे सो रहे हैं। सबके बाप नींद मे डूबे हुए हैं···

पता नहीं कौन-सा बच्चा सोते-सोते सिसक रहा है।
कौन-सी माँ है जो दूध का प्याला लिये बैठी है।
बस, एक सिसकी उभरकर आ रही है···

और बाप के सिरहाने तमाम फ़ाइलें बिखरी हुई हैं, लाल-नीली पेन्सिलें पड़ी हैं और लाइनें खीचने का एक रूल फ़ाइलो के नीचे से झांक रहा है।

धीरे-धीरे यह पूरा माहौल थरथराते पानी की तरह कांपता है और मेरी आंखो के सामने से सब-कुछ ओझल हो जाता है। एक क्षण बाद ही बहुत साफ़-सी तसवीर सामने आती है···

यह भी एक बेहद उदास शहर है। इसे मैं पहचानता हूँ, यह मेरे देश का शहर है। इस शहर मे मैं रह चुका हूँ। इसमे स्कूल, रेलवे-स्टेशन और अस्पताल भी हैं।

इसी शहर के एक मुहल्ले मे एक गली है। उस गली मे एक मकान है और अब मुझे लगता है कि यह सिसकी उसी मकान से आ रही है।

सर्दी की भीगती हुई रात है, घण्टाघर ने अभी-अभी दो का घण्टा खड़काया है। बिहारी बाबू नीद मे डूबे हुए हैं।

वह बिजली-कम्पनी मे क्लर्क है। उनके सिरहाने कई फ़ाइलें पड़ी हैं, लाल-नीली पेन्सिलें भी है और लाइनें खीचने वाला रूल फ़ाइलो के बीच से झांक रहा है···उनकी बीवी अभी सोयी नही है। वह छोटे दीपू के सिरहाने दूध का एक प्याला लिये बैठी है और दीपू सोते-सोते सिसक रहा है···

इसी सर्द रात मे से पिछली शाम उभर आती है।

अभी अंधेरा हुआ ही है।

बिहारी बाबू पुकारते हैं, "दीपू! किताबें लाओ।"

और आठ बरस का दीपू एकदम घबरा उठता है। उसकी समझ मे नही आता कि क्या करे, क्या न करे। शाम चार बजे उसने स्कूल से आकर बस्ता पटका था, अब पता नही कहाँ चला गया।

अलमारी मे बस्ता तो है पर किताबें नही हैं···तख्त के नीचे झांकता है, बक्सो के पीछे हाथ डालता है, बिस्तरों के ढेर मे एक-एक गद्दा उलट-कर देखता है, पर किताबें नही मिलती।

"दीपू क्या कर रहा है कामचोर?" बिहारी बाबू की आवाज़ फिर

विमला रसोईघर से निकलकर दरवाजे के पास ठिठक जाती है और बाप-बेटे को देखती है, दुनिया की मार से पिटा हुआ एक बाप और बाप की मार से कांपता हुआ एक बेटा !

"हिसाब नही पढेगा तो जूतियाँ गाँठेगा !" बिहारी बाबू की आवाज कमरे मे गूँजती है । "क्या करता रहा यह शाम से ?" बिहारी विमला से पूछते हैं ।

"यही कुछ लिख रहा था", विमला बचाव करती है ।

"ड्राइंग बना रहा होगा, क्यों ?" बिहारी बाबू जलती आँखों से दीपू को ताकते हैं ।

पता नही क्यो इतनी चिढ़ है बिहारी बाबू को ड्राइंग से । उनकी आँखो मे बिजली कम्पनी के इजीनियर बसे हुए हैं, जो उनके अफ़सर है, जो कारो मे आते-जाते हैं, जिनके नौकर दोपहर का खाना लेकर आते है, जिनकी बीवियाँ उन्हे सुबह दफ़्तर छोडने और शाम को लेने आती है ।···

और एक वह है कि सुबह आठ बजे खाने का डिब्बा लेकर कम्पनी की ओर चल देते हैं और शाम सात बजे फ़ाइलो का पुलिन्दा दबाकर लौटते है । कभी जब वह अच्छे मूड मे थे तो उन्होंने विमला से कहा था, "विमला, मै चाहता हूँ कि दीपू इजीनियर बने । घर का एक लड़का भी इजीनियर बन गया तो घर सुधर जायेगा । जिन्दगी बदल जायेगी । मेरे बेटे मेरी तरह ही बदनसीबी के शिकार हो, यह मैं नही चाहता, विमला !"

"अपना दीपू पढने मे तेज है," विमला ने गर्व से कहा था और अपनी फटी हुई साडी का आँचल कमर मे खोस लिया था। फिर बहुत धीरे से कहा था, "बच्चो के लिए रजाई नहीं है, जाड़े सिर पर हैं···"

"अब इस महीने मे तो मुश्किल है, एक अगले मे बनवा लेना और दूसरी दूसरे महीने मे," बिहारी बाबू ने खर्चे का हिसाब लगाकर कहा था और रोज-ब-रोज चीज़ो की ज़रूरतों और उन्हे इकट्ठा करने के बीच उन्हें हर क्षण यही लगता था कि इस दुःख-भरी दुनिया से उबरने का एक ही रास्ता है, दीपू का इजीनियर बनना, इसलिए कि उस पेशे मे इज्जत है, पैसा है, ज़िन्दगी के आराम है···

और रात में एक ही रजाई में सबको दुबकाकर जब विमला लेटती है तो दीपू उससे पूछता है, "माँ, फिर उस परी का क्या हुआ? राजकुमार कहाँ चला गया?"

तो विमला उसके बालों में अँगुलियाँ फिराते हुए बताती है, "आसमान के उस पार एक देश है—नीलम देश—परियाँ वहाँ रहती हैं। वे परियाँ अपने पंख फैलाकर नीलम देश में चली गयीं···राजकुमार भी वहीं पहुँच गया···"

"हूँ" दीपू हुंकारी भरता है, "नीलम देश कैसा है, माँ? वहाँ चिड़ियाँ हैं न···और फूल, माँ?"

"बहुत सुन्दर है नीलम देश!" विमला प्यार से कहानी सुनाती जाती है और दीपू उनींदी आँखों से आसमान के पार वाले नीलम देश की कल्पना करता-करता सो जाता है।

सुबह चारों बच्चे जागकर एक रजाई में कुलबुलाते रहते हैं। एक-एक कोना पकड़कर खींचते हैं। रात की बची हुई मूंगफलियों को झपट-झपटकर फिर अपनी जेबों में भर लेते हैं और फिर एक-एक कर ठिठुरते हुए हाथ-मुँह धोने के लिए निकलते हैं। दीपू के कानों की लवें नीली होती हैं, नाक नीली पड़ जाती है और सर्द ईंटों के फ़र्श पर वह पंजों के बल दौड़ता हुआ नल की पटिया पर पहुँचता है। खुली बाँहों के रोम उभर आते हैं—सर्दी की लहर से उसका शरीर रह-रहकर काँपता है। किसी तरह मुँह पर पानी चुपड़कर वह चूल्हे की ओर भागता है और घुटनों में दोनों हाथ दबाकर आग के सामने बैठ जाता है।

विमला तब चाय बनाती है।

चारों बच्चे चूल्हे के आस-पास जमा हो जाते हैं और छोटे-बड़े प्यालों में से सबसे बड़ा प्याला कभी किसी के हाथ आता है, कभी किसी के। फिर माँ से ऊपर तक प्याले भरने की जिद होती है—दूध में पड़ी झिल्ली-सी मलाई के लिए चीख-पुकार मचाती है।

चूल्हे का धुआँ बच्चों की आँखों में लगता है तो मीज-मीजकर आँखें लाल कर लेते हैं, पर हटता कोई नहीं। विमला भुने हुए आलू या शकर-

विमला रसोईघर से निकलकर दरवाजे के पास ठिठक जाती है और बाप-बेटे को देखती है, दुनिया की मार से पिटा हुआ एक बाप और बाप की मार से काँपता हुआ एक बेटा !

"हिसाब नहीं पढ़ेगा तो जूतियाँ गाँठेगा !" बिहारी बाबू की आवाज कमरे में गूंजती है। "क्या करता रहा यह शाम से ?" बिहारी विमला से पूछते हैं।

"यहीं कुछ लिख रहा था", विमला बचाव करती है।

"ड्राइंग बना रहा होगा, क्यों ?" बिहारी बाबू जलती आँखों से दीपू को ताकते हैं।

पता नहीं क्यों इतनी चिढ़ है बिहारी बाबू को ड्राइंग से। उनकी आँखों में बिजली कम्पनी के इंजीनियर बसे हुए हैं, जो उनके अफ़सर हैं, जो कारों में आते-जाते हैं, जिनके नौकर दोपहर का खाना लेकर आते हैं, जिनकी बीवियाँ उन्हें सुबह दफ़्तर छोड़ने और शाम को लेने आती हैं।...

और एक वह है कि सुबह आठ बजे खाने का डिब्बा लेकर कम्पनी की ओर चल देते हैं और शाम सात बजे फ़ाइलों का पुलिन्दा दबाकर लौटते हैं। कभी जब वह अच्छे मूड में थे तो उन्होंने विमला से कहा था, "विमला, मैं चाहता हूँ कि दीपू इंजीनियर बने। घर का एक लड़का भी इंजीनियर बन गया तो घर सुधर जायेगा। ज़िन्दगी बदल जायेगी। मेरे बेटे मेरी तरह ही बदनसीबी के शिकार हों, यह मैं नहीं चाहता, विमला !"

"अपना दीपू पढ़ने में तेज़ है," विमला ने गर्व से कहा था और अपनी फटी हुई साड़ी का आँचल कमर में खोंस लिया था। फिर बहुत धीरे से कहा था, "बच्चों के लिए रजाई नहीं है, जाड़े सिर पर हैं..."

"अब इस महीने में तो मुश्किल है, एक अगले में बनवा लेना और दूसरी दूसरे महीने में," बिहारी बाबू ने ख़र्चे का हिसाब लगाकर कहा था और रोज़-ब-रोज़ चीज़ों की ज़रूरतों और उन्हें इकट्ठा करने के बीच उन्हें हर क्षण यही लगता था कि इस दुःख-भरी दुनिया से उबरने का एक ही रास्ता है, दीपू का इंजीनियर बनना, इसलिए कि उस पेशे में इज़्ज़त है, पैसा है, ज़िन्दगी के आराम हैं...

और रात में एक ही रज़ाई में सबको दुबकाकर जब विमला लेटती है तो दीपू उससे पूछता है, "मां, फिर उस परी का क्या हुआ ? राजकुमार कहां चला गया ?"

तो विमला उसके बालों मे अंगुलियां फिराते हुए बताती है, "आसमान के उस पार एक देश है—नीलम देश—परियां वहां रहती है। वे परियां अपने पख फैलाकर नीलम देश मे चली गयी···राजकुमार भी वही पहुंच गया···"

"हूं" दीपू हुकारी भरता है, "नीलम देश कैसा है, मां ? वहां चिडियां हैं न···और फूल, मां ?"

"बहुत सुन्दर है नीलम देश !" विमला प्यारसे कहानी सुनाती जाती है और दीपू उनींदी आंखो से आसमान के पार वाले नीलम देश की कल्पना करता-करता सो जाता है।

सुबह चारों बच्चे जागकर एक रज़ाई में कुलबुलाते रहते है। एक-एक कोना पकडकर खीचते हैं। रात की बची हुई मूंगफलियों को झपट-झपटकर फिर अपनी जेबों मे भर लेते है और फिर एक-एक कर ठिठुरते हुए हाथ-मुंह धोने के लिए निकलते हैं। दीपू के कानों की लवें नीली होती है, नाक नीली पड जाती है और सर्द ईंटों के फ़र्श पर वह पजो के बल दौडता हुआ नल की पटिया पर पहुँचता है। खुली बांहों के रोम उभर आते है—सर्दी की लहर से उसका शरीर रह-रहकर कांपता है। किसी तरह मुंह पर पानी चुपड़कर वह चूल्हे की ओर भागता है और घुटनों में दोनों हाथ दबाकर आग के सामने बैठ जाता है।

विमला तब चाय बनाती है।

चारों बच्चे चूल्हे के आस-पास जमा हो जाते हैं और छोटे-वडे प्यालों मे से सबसे बडा प्याला कभी किसी के हाथ आता है, कभी किसी के। फिर मां से ऊपर तक प्याले भरने की जिद होती है—दूध मे पडी झिल्ली-सी मलाई के लिए चीख़-पुकार मचाती है।

चूल्हे का धुआं बच्चों की आंखों मे लगता है तो मीज-मीजकर आंखें लाल कर लेते है, पर हटता कोई नही। विमला भुने हुए आलू या शकर-

फन्द निकालती है तो हंगामा मच जाता है और कमरे से बिहारी बाबू की कड़कती हुई आवाज़ आती है। उस आवाज़ से सन्नाटा छा जाता है।

जब तक विमला बिहारी बाबू के लिए दोपहर का खाना बनाती है, बच्चे ललाये-से देखते रहते हैं। लम्बी साँस खींच-खींचकर भुनती हुई सब्ज़ी की गन्ध पर चटखारे भरते हैं, पर चुपचाप बैठे रहते हैं। उन्हें मालूम है कि यह खाना बाबूजी का है। जब बाबूजी अपना डिब्बा लेकर चले जायेंगे तब उनका नम्बर आयेगा। बड़े धीरज से सब बैठे रहते हैं।

चूल्हे की लौ से उनके मुलायम पर शैतानी-भरे चेहरे दमकते रहते हैं।

बिहारी बाबू के जाते ही विमला दीपू को तैयार करती है। और वह ठुनकता है, "हमारे पास रंग का डिब्बा नहीं है, कापी नहीं है, हमें बड़ी पेन्सिल चाहिए, माँ!" तब विमला उसे समझाती है और फुसलाकर स्कूल रवाना कर देती है। अपने बस्ते में अख़बार के टुकड़े में लपेटकर वह नाश्ता रखता है और किरमिच के जूते पहनकर निकल पड़ता है।

स्कूल जाने की कोई जल्दी उसे नहीं होती। वह रोज़-रोज़ अचरज-भरी आँखों से दूकानों की चीज़ों को देखता है। शीशे की अलमारियों के पास रुककर वह हर चीज़ को ग़ौर से देखता है। रंगीन कपड़ों को···खेल के सामान को···होटल में आते-जाते लोगों को और सिनेमा के पोस्टरों को···

फिर बस आ जाती है और वह उसमें लटक जाता है। कण्डक्टर उसे पहचानता है। बड़े प्यार से वह रोज़ कहता है, "आ गये, दीपू!" और दीपू अपना पास निकालकर खुद ही पेन्सिल से तारीख़ काट लेता है। कण्डक्टर का पैसा रखने वाला चमड़े का बैग उसे बहुत अच्छा लगता है और वह पीतल का बिल्ला भी जो वह अपने ऊनी कोट पर लगाये रहता है।

बस से वह रोज़ उसी रास्ते को देखता है—छोटी-सी दुनिया भी बड़ी मोहक लगती है उसे, क्योंकि वह उस एक सड़क की दुनिया से भी अभी बहुत दूर है। वह उन चमचमाती दूकानों में कभी नहीं गया है। परदेदार घरों के भीतर उसने अभी नहीं झाँका है···जब कोई कार सर्र से बस के आगे निकल जाती है तो उसे बड़ा मज़ा आता है और दूर तक जाती हुई

कार को वह ताकता रहता है। बँगलो मे खिले हुए फूल देखकर उसका जी ललचा जाता है···

एक दिन वह स्कूल के माली की आँख बचाकर एक गुलदावदी का पौधा चुरा लाया था। घर आते ही उसने बड़े जतन से उस पौधे को रोप कर पानी दिया था और माँ की कलछी से क्यारी बना दी थी। शाम तक कई बार उसने जा-जाकर पौधे को देखा और माँ को बताया था, "माँ, इसमे इत्ता बड़ा फूल आयेगा !···बहुत वढ़िया !···कल हम और पौधे लायेंगे !···और जब सबमे फूल आ जायेंगे तो तितलियाँ आया करेंगी। है न माँ ?···"

और तब शाम का अँधेरा हो ही रहा था।

बिहारी बाबू की आवाज़ सुनाई पड़ी, "दीपू ! किताबें लाओ।"

वह खुद अपनी फ़ाइलें फैलाये बैठे थे और उनकी आँखो के सामने अपने अफसरो के चेहरे घूम रहे थे।

और फिर, "दो क्यों गलत हुए ?" पहले हाथ दीपू के कान पर गया था और अगला सवाल था, "पहाड़ा याद है ?"

"हाँ," दीपू ने सूखे गले से कहा था।

"अठारह सत्ते ?···बोल अठारह सत्ते ?···बोल !"

"अठारह सत्ते···" दीपू के होश-हवास गुम हो रहे थे। आँखों के सामने अँधेरा छा रहा था, "अठारह सत्ते एक सौ···एक सौ···"

और तभी एक ज़ोर का तमाचा उसकी कनपटी पर पड़ा था, "अठारह सत्ते···बोल !"

उसकी गरदन की नसें निकल आयी थी। गाल पर अँगुलियों के निशान उभर आये थे।

"हाथ आगे कर !···हाथ आगे कर !" बिहारी बाबू चीख़ रहे थे। और दीपू अपने छोटे-छोटे स्याही-रँगे और धूल-भरे हाथ आगे करता जा रहा था और रूलें पड़ती जा रही थी। आँखों से आँसू ढरक रहे थे।

"चुप !···आवाज़ न निकले ! आवाज़ निकली तो सिर तोड़ दूँगा ! ···चुप !"

उसके होंठ फड़फड़ा रहे थे। हथेलियाँ थरथरा रही थी और सिस-

कियाँ रुक नहीं पा रही थीं।

"अठारह सत्ते ?···बोल !" और आठ-दस थप्पड़ और पड़ गये।

धरती घूम गयी और दीपू बेहाल होकर गिर पड़ा। दरवाज़े की चौखट से लगी विमला दौड़कर आयी और जैसे-तैसे दीपू को उठा ले गयी, "अब क्या मार ही डालोगे ?"

"मरे तो मर जाये ?" बिहारी बाबू चीख़ पड़े, "कोई उम्मीद न रह जाये तो अच्छा है !"

उस रात सर्दी बहुत थी। बारिश होने लगी थी। विमला रज़ाई में दीपू को दुबकाकर लेट रही थी। दीपू बिना खाये ही सो गया था। सोते-सोते सिसकियाँ आती रही थीं। सन्नाटा घर को लपेटे हुए था। रात दो बजे विमला की आँखें खुलीं तो दीपू सोते-सोते कभी-कभी सिसक उठता था। भूखा सो गया था। वह एक प्याला दूध गरम करके लायी और बड़े दुलार से उसने दीपू को जगाना चाहा···

बाहर बारिश हो रही थी। हवा की सनसनाहट से ख़ामोशी और भी भयानक लग रही थी। दीपू नींद में गहरी साँसें ले रहा था, और बच्चों पर रज़ाई ठीक करके उसने फिर प्यार से पुकारा, "दीपू, दीपू, बेटे !"

दीपू कुलबुलाया। विमला ने उसे उठाकर दीवार के सहारे टिका लिया। उसकी नींद नहीं टूटी थी। विमला ने फिर उसे धीरे से हिलाया, "दीपू, दूध पी ले।"

और नींद में दीपू बुदबुदाने लगा, "अठारह छक्के एक सौ आठ··· अठारह सत्ते···अठारह सत्ते···" और सिसकी लेकर फिर से रो पड़ा।

और अब फिर सिर्फ़ एक सिसकी की आवाज़ सुनाई पड़ती है। पता नहीं, किस देश के किस शहर की किस गली से यह आवाज़ आ रही है···

रात सर्द है और बारिश हो रही है।

एक बेहद उदास शहर है। उस शहर में स्कूल है, रेलवे स्टेशन है, और अस्पताल भी है। माँ दूध का प्याला लिये बैठी है, और बाप फ़ाइलें सिरहाने रखे सो रहा है।

पराया शहर

उसने यही सुना था कि पुरखे पहले गाँव मे ही रहते थे। खेती-बारी करते थे। घर का कोई एक आदमी कुछ पढ-लिख गया था तो तहसील मे उसका आना-जाना शुरू हुआ था। वैसे उपज बेचने के लिए उसके घरवालो को शहर की मण्डी मे जाना पड़ता था। पर वह मेले मे जाने की तरह होता था। सुना था कि दादा के बाप अनाज बेचने जाने के लिए दो दिन से तैयारी शुरू कर देते थे। बैलगाडी मे नयी रस्सियाँ लपेटते और अपनी मूँछो पर मक्खन मलते थे, फिर पगडी बाँधकर और गाडी मे बड़ी-बडी पोटरियाँ भरकर कस्बे जाते थे। लौटते थे तो घी की जलेबी और गमा देवी के प्रसाद के बताशे और कुप्पी मे देवी का जल लेकर।

इनके अलावा दो-चार बातें और उसने सुनी हैं। उसी वक़्त घर मे एक लड़का बेकार निकल गया था···जिसका खेती-बारी मे मन नही लगता था। वह और कोई नही, ख़ुद उसी का दादा था, जो चार हरूफ़ उर्दू के सीख गया था और जरूरत पडने पर अँगरेजी बोलने वाले साहब को पानी वग़ैरह पिलाने की हिम्मत कर लेता था···जानवरों की बोटी-बोटी की पहचान उसे थी और इसीलिए क़स्बे के काँजी-हाउस में उसे तीन रुपये माहवार की नौकरी मिल गयी थी। ऊपर की आमदनी भी बहुत हो जाती थी, क्योकि जिसका जानवर फँस

गया वही कुछ-न-कुछ देकर जाता था···और इस तरह तनख़्वाह और कुल आमदनी मिलाकर करीब साढे तीन-पौने चार सौ रुपये महीने पड़ जाते थे।

अधकचरे शहर से उसके पुरखों का यही पहला सम्बन्ध था। और वही शहर मे उसके दादा के इकलौता लड़का पैदा हुआ था···जिसका नामकरण देवी दुर्गा पर हुआ था—दुर्गादयाल!

आगे चलकर दुर्गादयाल ने शहर मे बहुत नाम कमाया। जब-जब इस नाम की शोहरत का ख़याल आता है, सुखबीर का मन घबराने लगता है। तरह-तरह की बातें दिमाग में उठने लगती हैं और उसके सामने वे तमाम दृश्य घूम जाते है जिनका सम्बन्ध माँ की मौत के बाद के समय मे है। उसकी माँ थी, बस इतना अहसास-भर उसे है क्योंकि उसे माँ का चेहरा-मोहरा कतई याद नही···

अगर मौका होली का न होता तो सुखबीर को कुछ भी याद न आता। वह बस मे चला जा रहा था कि किसी शैतान लड़के ने पानी से भरा गुब्बारा फेंका था और उसके पास बैठी महिला के कन्धे से टकराकर फट से फूट गया था। तभी एकाएक उसे होली की याद हो आयी थी।

जब-जब कोई त्यौहार पास आने लगता है, सुखबीर का मन उचटने लगता है। पन्द्रह साल हो गये इस दिल्ली मे रहते-रहते, पर मन मे कही यह बात नही उठती कि यह दिल्ली उसकी है। वह इसे अपना नही कह पाता।

और कहता भी कौन है···जिससे भी बात होती है वह अपने-अपने शहर या गाँव या कस्बे को याद करता है और अजनबीपन की झलक आँखो मे उतर आती है। हर आदमी किसी-न-किसी शहर से जुड़ा हुआ है···वह शहर जो उसका अपना है, जहाँ की यादें उसे सताती हैं··· साथवालों का ख़याल आता है। सगे-सम्बन्धियों, घरवालों, रिश्तेदारों की नाते की डोर उन्हे अब तक बाँधे हुए है। उन सबके पास कुछ ऐसा है जिसे ↓ लोग अपना कह सकते हैं। तब बड़ी तकलीफ होती है और उसे अपने उस शहर का ख़याल आता है जहाँ वह पैदा हुआ था···

शोहरत से घबराने लगा था। उसने अपने बाप को बहुत प्यार किया था पर शहर मे होने वाली बातों में रोज-ब-रोज उसे अपने बाप के किस्से सुनाई पड़ते थे। जिस तरह लोग दुर्गादियाल का नाम लेते थे, वह सुखबीर को चुभता था'''सबकी नजरों मे हिकारत तैरती रहती थी और उसका मन भारी हो आता था। और तब उसे अपने बाप से तथा स्वयं से घृणा होती थी।

जब पुलिस ने उसके घर पर घेरा डाला था और तमाशबीनों की भीड़ मजा लेने के लिए खड़ी थी'''उस रोजवाली बात जिन्दगी-भर के लिए साथ हो गयी'''

उसका वह घर और वह गलियाँ'''

जहाँ दोनों गलियाँ जमीन पर पड़े सूखते हुए पैजामे की तरह फैली थी'''जहाँ जंगली कबूतर उड़-उड़कर आया करते थे और अबाबीलें चक्कर काटती थीं। जहाँ नानबाई की दूकान की पतली चिमनी जलती हुई सिगरेट की तरह धीरे-धीरे धुआँ देती रहती थी। जहाँ मुख्तार साहब का मकान खिडकियों का चश्मा लगाये खड़ा था। वे गलियाँ और उसका वह मकान—उसके लिए सब पराये थे'''

उसका बाप दुर्गादियाल किसी लड़की को भगा लाया था। वह लड़की ही उसके वारण्ट का कारण थी और तभी वह छत पर खड़ा चीख़ रहा था, "है कोई माई का लाल जो जमानत दे दे।"

तमाशबीनों की उस भीड़ में से तब दीक्षितजी निकले थे और दुर्गादियाल ने दरवाजा खोलकर अपने को पुलिस के हवाले कर दिया था। जब तक वह केस चलता रहा सुखबीर के लिए जीना मुहाल हो गया था। आखिर दुर्गादियाल ने केस जीत लिया था और उस लड़की से शादी कर ली थी।

तभी से उसके लिए वह घर पराया हो गया था। बस्ती में निकलते वह घबराता था। हर जगह उसे यही सुनना पड़ता था कि उसी दुर्गादयाल का लड़का है यह—उसी बदमाश का'''बहुत दिनों तक वह यही सब सुनता रहा। कभी जब वह अपने बाप की तरफ देखता था तो लगता कि अपनी उन करतूतों का कोई पछतावा उसे नहीं है—वह बहुत खुश था और दुनिया की परवाह उसे नहीं थी।

चलता है तो उसका मन करता है कि वह भी किसी के साथ बैठकर कुछ वक़्त बिताये—उसका भी अपना कोई घर होता, जहाँ जाकर वह त्योहार की ख़ुशियों में शामिल होता। और तब उसे अपने बाप से भी ईर्ष्या होती थी, जो जिन्दगी को बड़ी धूमधाम से जी रहा था और वह अकेला था।

और आज जब वह सोचता है तो लगता है कि वह ख़ुद और उसका वह बाप—दोनों दो इकाइयों की तरह अकेले खड़े हैं—जिन्दगी का वह तूफ़ान एकाएक उतर गया है और ख़ौफ़नाक सन्नाटा छा गया है—वक़्त के साथ दोनों अकेले होते चले गये। उनकी दूरियाँ और भी बढ़ती गयी हैं—ऐसा क्यों होता है कि हर आदमी अन्त में अकेला ही रह जाता है!

आज सात साल हो गये वह घर नहीं गया—अपने बाप से नहीं मिला—सौतेली माँ के मरने पर भी घर नहीं गया। लेकिन इतना-भर उसने सुना था कि सौतेली माँ के मरने के समय उसका बाप बहुत रोया था और उसकी लाश को चौबीस घण्टे गोद में लिये बैठा रहा था—उसने भीतर से दरवाज़ा बन्द कर लिया था और लाश के पास बैठा अपना दुखड़ा रोता रहा था—तब गली-मुहल्ले वालों ने ज़ोर-जबरदस्ती से उसे निकाला था और लाश का दाह-संस्कार हुआ था।

सौतेली माँ के मरने के बाद भी दुनिया से उसकी मोह-ममता टूटी नहीं थी—बल्कि और भी गढ़ गयी थी—दोस्ती का दायरा और भी फैल गया था। वह हर चीज़ को पूरे मन से चाहता था और अन्धों की तरह हर लाठी पर विश्वास करता था। हर आदमी के लिए जान देता था—दस मुसीबतें उठाकर भी दूसरों के काम करता था, "क्यों नहीं, है मेरे पास? इतनी बड़ी दुनिया पड़ी है मेरे लिए···"

और एक बार अपने अकेलेपन में सुखबीर का मन ममता से भर आया था, तो उसने ख़त लिखा था, "बापू, अब तुम अकेले रह गये हो, मन न लगता हो तो यहाँ मेरे पास चले आओ। यहीं आकर रहो।" पर उसके जवाब में उसने लिखा था कि पराये शहर में उसका मन नहीं लगेगा। यहाँ दस लोग हैं, अपनी देहरी है और बहुत-से काम हैं जो उसे करने हैं।

दीक्षितजी की लड़की की शादी है। पुत्तर चोट खाकर अस्पताल मे पडा है और बांके के यहां चोरी हो गयी है जिसका कुछ सुराग उसने लगा भी लिया है—इस वक़्त वह नही आ सकता। और फिर बिराने शहर में वह आकर करेगा भी क्या ? जहाँ कोई भी अपना नही है।

फिर जब एक दिन के लिए घर गया था तो दुर्गादयाल ने कहा था, "भाई, तुम्हे वड़े शहरो का चाव है, तुम रहो, यहाँ मुझे क्या कमी है। हर घर मेरा अपना है, वहाँ दिल्ली मे यह अपनापन कहाँ मिलेगा··· पराया शहर पराया ही होता है। हाँ, अब जरा पैसे की कमी होती जा रही है, तीस-चालीस रुपया भेज सको तो महीने पर भेज दिया करो···"

तब से वह रुपया-भर भेज देता था। यही सम्बन्ध बाक़ी रह गया था। छठे-छमाहे कभी एकाध ख़त आ जाता है। जब खत आता तो एक पल के लिए प्यार से उसका दिल उमड़ता था, फिर सब बदल जाता था और एक बार अपने अकेलेपन मे सुखबीर का मन भर आया था···बस यूँ ही बैठे-बैठे उसे अपने बाप की याद आयी थी, उसके दिन-दिन थकते हुए शरीर का ध्यान आया था। यह भी लगा था कि अब इस बुढ़ापे मे कैसे क्या करता होगा, हारी-बीमारी मे कौन सहारा देता होगा और तब उसने मन-ही-मन यह तय किया था कि वह उसे अब जबरदस्ती यहाँ ले आयेगा और यही अपने पास रखेगा···सारे सम्बन्धों को फिर शुरू करेगा।

उस दिन वह यही सोच रहा था कि तभी दीक्षितजी की चिट्ठी उसे मिली थी, जिसमे उन्होंने पूछा था कि दुर्गादयाल उसके पास तो नहीं आया हुआ है ? वह पिछले एक महीने से घर से गायब है। और आगे उन्होने बहुत सँभलकर लिखा था—अगले महीने में ही लडकी की शादी है। हमने दुर्गादयाल पर भरोसा करके कुछ जेवर उसे बनवाने को दिये थे, पर जब से जेवर दिये है, वह लापता है। इतना बड़ा धोखा होगा यह मैंने नही सोचा था। अगर दुर्गादयाल तुम्हारे पास है तो फौरन मुझे इत्तला दो या उसकी कोई ख़बर तुम्हे हो तो मुझे लिखो···

दीक्षितजी का पत्र पढकर सुखबीर का सिर घूम गया था—यह क्या किया ? क्या अब इतने नीचे गिर गया है उसका बाप कि ब्याह के जेवर

लेकर भाग जाये ?

फिर दीक्षितजी का तार आया था और उसे शहर जाना पड़ा था, अपने बाप की खोज में। सीधा जाकर वह दीक्षितजी से मिला था तो उनकी आवाज़ नही निकल रही थी पर अपने को इस धोखे की चोट से सँभालते हुए उन्होंने कहा था, "अब तुम्हीं बताओ सुखबीर ! मेरा क्या होगा ? मेरी तो इज्जत उतर जायेगी···आठ दिन बाकी हैं, इतने कम वक़्त में कुछ कर भी नही सकता।"

"पुलिस मे रिपोर्ट कीजिए और साले को बँधवा दीजिए।" किसी ने कहा तो सुखबीर का मन घृणा और पश्चात्ताप से बैठा जा रहा था। लेकिन और हो भी क्या सकता था ? उसका सिर झुका जा रहा था—एक क्षण के लिए उसके मन में आया था कि वह पकड़ जाये और जेल में पड़ा बाकी जिन्दगी सड़ता रहे···अब वह कोई भी, किसी भी तरह का सम्बन्ध उससे नही रखेगा।

लेकिन दूसरे दिन उसका बाप शहर लौट आया था और दीक्षितजी के पास पहुँचकर उसने नये बने हुए ज़ेवर सामने रख दिये थे और कहा था, "पण्डितजी, इस बार इज्जत रह गयी; इन्हें रखिए, पर आगे कभी हम पर विश्वास न कीजिएगा—मैं कहूँ तब भी नही। यह ज़ेवर मैं हार गया था। अब आज मुँह उजियारा हो रहा है।"

उस वक़्त सुखबीर को लगा था कि उसका मुँह उजियारा नही और भी काला हो गया है। घर पहुँचकर दोनों में बड़ी तू-तू मैं-मैं हुई थी और दोनो ने सम्बन्धों को खत्म कर लिया था। दोनों ने एक-दूसरे का मुँह न देखने की कसमे खायी थी। उसने माहवार रुपया लेने से इनकार कर दिया था और उसने भेजने से; और वे दोनों उस रात अजनबियो की तरह बिलकुल अलग हो गये थे। वह बगैर पैर छुए और घर में पानी पिये दिल्ली लौट आया था।

लेकिन इन सब बातों के बावजूद इतने बरस बाद उसका मन फिर उमड़ आया था और अपने बदनाम बाप से मिलने के लिए वह चल पड़ा। पराये शहर में मन नही लगता था।

होली की छुट्टी थी। उसने बिस्तर बाँधा और सफ़र तय करके घर पहुँचा तो देखा, घर पर ताला पडा हुआ था।

दोनों गलियाँ अब भी ज़मीन पर सूखते हुए पैजामे की तरह फैली थी। अबाबीलें और कबूतर उड रहे थे। नानबाई की चिमनी से धुआँ निकल रहा था और मुख़्तारसाहब का मकान भी चश्मा लगाये खड़ा था—लेकिन उसके घर पर ताला बन्द था। गली वालो ने भी इतने साल बाद उसे देख-कर कोई ख़ास उत्साह नही दिखलाया और उसका मन धडकने लगा था। तरह-तरह की आशकाएँ उठने लगी थी। कही फिर कोई बात करके तो वह नही भाग गया ?

दीक्षितजी के घर जाकर उसने पूछा था तो पता चला कि दो दिन पहले तक तो उन्होने दुर्गादयाल को देखा था, अब अब पता नही होली पर कहाँ भाग गया। इन दिनों वह कुछ परेशान भी था। कर्ज़ा भी कुछ चढ़ गया है···सभी का कुछ-न-कुछ उसे देना है···

एक दिन के लिए वह दीक्षितजी के यहाँ ही रुक गया था। होली हुई—रास्तों, गलियों की फुलझड़ियो के फूल बन गये—चबूतरो पर गुलाल की लाली फैल गयी पर उसका बदनाम बाप नही दिखाई पड़ा।

और दूसरे दिन सुबह जब वह बहुत भारी मन लिये दीक्षितजी के घर से बिदा लेकर निकला तो देखा कि उसके घर का ताला खुला हुआ है। बड़ा सहारा-सा मिला था उस वक़्त···और उसने दरवाज़ा खटखटाया तो दुर्गादयाल निकलकर आया था।

"तुम कहाँ चले गये थे, बापू ?"

"तुम कब आये थे ?" अपनी बात न बताकर दुर्गादयाल ने सवाल पूछा था।

"हम तो कल आये थे · तुम्हारे पास···सोचा होली थी, तुम अकेले होगे ! लेकिन यहाँ ताला बन्द था।"

दुर्गादयाल की आँखें भर आयी थी और भरी हुई आवाज में उसने कहा था, "ऐसे ही चला गया था। यहाँ क्या करता सुखबीर ! अब तो यह शहर भी पराया-सा लगता है। सब कुछ बीत गया। अब तो दो-दो, चार-चार पैसे के लिए लोग परायो की तरह पेश आते हैं, वही लोग जो अपने थे अब

परेशान करते है । कोई साथ नही देता'''दो पैसे की चीज देने से इनकार कर देते है'''इतना परायापन आ गया है अपनों मे !"

"तो चलो, मेरे साथ दिल्ली चलो'''शहर तो वह भी पराया है बापू, फिर भी'' " सुखवीर ने कहा था।

"अरे, इस परायेपन का निस्तार कही नही है सुखबीर, न यहाँ न वहाँ'''" कहते-कहते उसकी गँदली आँखे डबडबा आयी थीं, और उसने सुखबीर को बिदा कर दिया था। चलते वक़्त यही कहा था, "तुम जी लगाकर नौकरी करो सुखबीर'''मेरी चिन्ता मत करना—अपनी ख़ैरियत की खबर देते रहना'''"

और सुखबीर वापस नौकरी पर चला आया था। और उसे लगा था कि दुनिया में हर आदमी के दो ही शहर होते है—एक वह जहाँ वह पैदा होता है और उसका कोई रहता है, और दूसरा वह जहाँ वह अपनी रोजी के लिए जाता है और ज़िन्दगी गँवा देता है। तीसरा शहर तो अपना होता नही।

और बार-बार उसे अपने शहर का ख़याल आता है, जिसमे वह ख़ुद रहता है और नौकरी करता है और जो अब तक पराया है। फिर उस शहर का ख़याल आता है जिसमे उसका बाप रहता है और जो अब उसके बाप के लिए भी पराया हो गया है।

●●●

कमलेश्वर

●

जन्म : 6 जनवरी, 1932 (मैनपुरी, उ० प्र०)

शिक्षा : एम० ए० (इलाहाबाद विश्वविद्यालय)

☐ कहानी-संग्रह

राजा निरबंसिया, क़स्बे का आदमी, खोयी हुई दिशाएँ, बयान, जिन्दा मुर्दे, मेरी प्रिय कहानियाँ।

☐ उपन्यास

वही बात, आगामी अतीत, एक सड़क सत्तावन गलियाँ, डाकबंगला, समुद्र में खोया हुआ आदमी, तीसरा आदमी, खोये हुए मुसाफिर, काली आँधी।

☐ समीक्षा

नयी कहानी की भूमिका, मेरा पन्ना
नयी कहानी के बाद (प्रकाश्य)

☐ नाटक

चारूलता, अधूरी आवाज़, कमलेश्वर के बालनाटक।

☐ यात्रावृत्त

खंडित यात्राएँ, बंगला देश की डायरी (प्रकाश्य)
चुनावों के दौरान (प्रकाश्य)

☐ संस्मरण

अपनी निगाह में

☐ संपादन

मेरा हमदम : मेरा दोस्त
समांतर- 1, गर्दिश के दिन